घाटी में पिघलता सूरज

सावित्री परमार

पंचशील प्रकाशन
जयपुर-302003

मूल्य : तीस रुपये

प्रथम संस्करण : 1985

प्रकाशक

पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर-302003

मुद्रक : शांति मुद्रणालय, दिल्ली-32

GHATI MEIN PIGHALTA SOORAJ
By Savitri Parmar Rs. 30.00

क्रम

काले द्वीप की फागुनी धूप···

होस्टल कम्पाउण्ड मे बड़ी शांति थी···छुट्टियां चल रही थी, इसलिए अधिकांश कमरों में ताले झूल रहे थे। बाहर लॉन मे तीन-चार मजदूर मशीन से घास काट रहे थे। दक्षिण वाली गैलरी में लायब्रेरी खुली हुई थी। पेड़ो से छनकर वासंती गुनगुनी धूप हरी दूब पर तितलियों की तरह छिटकी हुई थी। कही किसी खुले कमरे की खिड़की से खनखनाती हंसी के कतरे हवा के साथ उड़कर धुनी कच्ची रुई-सी मुलामियत का अहसास करा रहे थे।

उसने एक उड़ती-सी नजर पूरे वातावरण पर डाली। पीली रौसों में धधकते लाल-गुलाबी गुलाब मुस्करा उठे। एक मीठी गंध उसे सहला गई। उमग की श्वेत फाख्ता मन मे फुदकी और उसकी सांसो में जैसे अधीरता का सोता बह चला। उसने तुरन्त खादी एम्पोरियम से खरीदे गए ताजा बैग से पैसे निकालकर टैक्सी का किराया चुकाया और अटैची उठाकर दाईं ओर जाने वाले जीने से चढ़कर ऊपर की बालकनी मे आ गई।

मन के किसी कोने में दुविधा ने भी छोटा-सा आकार ले लिया था··· कि कही वह इधर-उधर न चला गया हो! या हो सकता है नीचे लायब्रेरी मे ही हो। खुशगवार मौसम मे क्या पता किसी मित्र के साथ पहाडी पगडण्डियों से नीचे उतर गया हो? खैर, देखा जाएगा···कही गया भी होगा तो शहर से बाहर तो जाएगा नही, लेकिन ताला बंद मिला तो?

इन्ही शंकित विचारों मे तैरते-उतराते उसने पूरी बालकनी और साइड का कारीडोर पार किया। अचानक उसके पांव रुक से गए। ओह गॉड! वह तो यहां है!

मन की खुशी ओठो पर कांप उठी···उसकी इच्छा हुई कि खुमार भरी हवा में एक जोरदार सीटी उछाल दे, लेकिन जल्दी ही उसने इस

चचकाने ख्याल को झटके से हटा दिया।

उसका कोने वाला कमरा खुला हुआ था। भीतर से गिटार की आवाज आ रही थी। कोई बड़ी बैचैन-सी धुन निकल रही थी, ऐसी धुन जो मन के तारों को छूकर मथ डाले···मूक वेदना की असंख्य लहरें दौड़ा दे।

उसे लगा जैसे गिटार की यह सगीत-ध्वनि नही है, वल्कि बहुत दूर पहाड़ों के पीछे कोई दर्द से धीरे-धीरे कराह रहा हो या सागर की चौड़ी छाती पर पवन सिर धुन रहा हो! उसका मन एकदम उदास-सा होकर व्याकुल हो उठा, पर तुरन्त ही एक चैन की सास भी आई कि चलो मिल तो गया···कलाई पर नजर डाली, सुवह के नौ वजे थे·· पांव फिर उठे। वह कमरे के द्वार तक आ गई। गिटार उसी तरह से थरथरा रहा था।

हवा के झोंके से द्वार पर लटका हरा पर्दा उसके आंचल से टकरा गया। बहुत अच्छा लगा। आहिस्ता से वह कमरे मे आई। एक किनारे धीरे से अटैची रखी और चुपचाप खिड़की के पास वाली कुर्सी पर वैठ गई।

देहरादून की सुवह अपनी पूरी ताजगी के साथ कमरे में मौजूद थी··· बाहर साफ चिकनी देहरादून की चौडी सडक अण्डाकार मोड़ लेकर लेटी हुई थी। तीसरी मजिल की इस खिड़की से ओस भीगी खपरैल के ढलवां मकान खिलौनो की तरह लग रहे थे। आसपास थे हरियाली से लदे लम्बे-लम्बे पेड़। छज्जों पर फूलो के गुच्छे सजाए वेले फैली हुई थी।

मकानो के आगे सफेद किंगड़ी लगाए लाल बजरी के गलियारे वडे प्यारे लग रहे थे। ढेर-ढेर हरियाली के गुलदस्तों मे फूलों के रूप सजाए बड़े आराम से बैठा था देहरादून···

खिड़की से नजर हटाकर वह एकटक उसे देखने लगी···वह अब भी बड़ी तन्मयता से गिटार बजा रहा था। हवा के हल्के स्पर्श से उसके माथे पर रेशमी वालों के घुंघराले भंवर मचल रहे थे। खुली सीपी-सी आंखो पर झुकी पुतलियां जाने किस स्वप्न में डूबी हुई थी। एक मासूम-सी अकेली मुस्कान उसके ओठों के कोनों पर छा रही थी···लेकिन उन खंजन-सी सुन्दर आंखो को जाने किस जन्म के अभिशाप का प्रायश्चित करना पड़

रहा था ! यह किस श्राप का फल था कि उनसे रोशनी का पूरा आकाश छीन लिया गया था !

झील की तरह उज्ज्वल और नीलम की तरह चमकीली पुतलियों के बेशकीमती हीरे लेकर भी वह अंधकार के काले सागर में तैर रही थी''' राह भूले थके हारे मृग की तरह इधर-उधर दिशाहीन भटक रही थी। जन्म से लेकर अब तक की उम्र के सफर में दौड़ने-भागते जाने कितनी आहत हो चुकी होंगी ? आत्मा के भीतर फैले किस अव्यक्त प्रकाश की उगली थामी होगी ? कैसे'''! आखिर कैसे इतना सुन्दर संगमरमरी यूनानी मूर्तियों-सा तराशा हुआ यह व्यक्तित्व इतनी ऊंची शिक्षा, विनम्रता और जीविका लेकर संवरा होगा ? उसके मन में फिर कोई टीस-सी उठी।

उसे याद आया वह दिन, जब वह पिछले वर्ष इसी फागुन के सीजन में ही देहरादून का सहस्त्र फाल देख रही थी'''तभी पीछे से किसी का धक्का लगा था। सैलानियों की काफी भीड़ थी'''उसने झुझलाकर पीछे मुड़कर देखा तो काला चश्मा लगाए एक बहुत ही सुदर्शन युवक को बड़ी ही मोहक मुस्कान लिए खड़ा पाया'''भव्य परिवेश, चमचमाते काले जूते और हाथ में एक मोटी जिल्द वाली पुस्तक। वह उसी झुझलाहट से बोली थी—

"कमाल है आपका भी'''! क्या दिखाई नहीं देता ?"

कहकर वह उसी ठमके से आगे बढ़ने ही वाली थी कि पीछे से बड़ी घुटी-घुटी आवाज आई थी—

"रियली मैडम, यू आर राईट आफकोर्स'''दिखाई नहीं देता'''बात यह है कि मेरा दोस्त मुझे यहां खड़ा करके किसी काम से गया है'''पीछे से किसी ने टक्कर दी, सम्भल नहीं पाया'''आपको इसलिए तकलीफ हुई '''क्षमा करें।"

'''और तभी वह दोस्त आया और उसे लेकर चल दिया। वह और उसकी फ्रेण्ड निमि जड़ होकर रह गई थी। ओह ! इस नेत्रहीन को क्षण-भर में कितना कटु व्यवहार सौंप डाला था और उसका प्रत्युत्तर कितना मधुर ! पर मधुरता छू कहां पाई ? लगा जैसे एक कोड़ा कसकर लगा हो

उसकी पीठ पर···

तभी घास पर एक छोटी-सी डायरी पैर से टकराई। अरे ! यही तो खडा था वह ! निमि ने उसे उठा लिया·· दोनों ने पढ़ा ··उसमे होस्टल का पता, कालेज का नाम था·· उसी से जाना कि वह अंग्रेजी का प्रोफेसर था।

उस दिन से लेकर आज तक, मतलब पूरे वर्ष का एक नया ही जीवन इतिहास रहा है। अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए कितने अन्तर्द्वन्द्वों में अपने आपको, घर वालों को डाला है···कितना इस मिहिर को परेशान होना पड़ा है। इस स्वीकृति के लिए उसे कितने विरोध सहने पड़े है !

हा, विरोध···बड़े भाई कैप्टन का, बड़ी डाक्टर दीदी का, पुलिस आफीसर पिता का और दिल की मरीज मां का और सबसे अधिक इस मिहिर का···उसने अपने घर मे सभी को यही समझाया था कि मिहिर में क्या कमी है ? वह इगलिश मे एम० ए० है। प्रोफेसर है। सभ्य-सुसंस्कृत है। सगीत का ज्ञाता है। व्यवहारशील और बातचीत में प्रभावशाली है। अच्छा मित्र है। क्या नही है उसके व्यक्तित्व मे ?

सभी से साफ शब्दों में कह दिया कि वह उसकी रोशनी बनेगी। शेष जीवन का सहारा बनेगी। यह भावुकता नही, सोच समझकर लिया गया पक्का निर्णय है। निर्णय लेने में अपना ही चिंतन नही था, बल्कि मिहिर की जाने कितनी भावनाओ ने इसे और भी मजबूत बनाया था।

कई-कई टुकड़ो मे बंटी बहुत-सी बातें···

ऐसे ही एक दिन वह बोल उठा था—

"सुमि ! जानती हो, जब पहली बार खेलते-कूदते मुझसे केवल आवाजें टकराई थी मेरे साथियो की···तब कच्चे बचपन मे ही मैंने जाना था कि मैं ज्योतिहीन हू···सोचो सुमि ! चिर-अंधकार के सतत प्रवाह में रात-दिन, मौसम, त्यौहार, मेले सब बहते गए, रीते, बेस्वाद और बेरंग···जिन्दगी कटु सत्य का प्याला लिए सामने खड़ी रही और उसे कटुता का प्रारब्ध-गरल बूंद-बूंद पीना पड़ा···

"बोलो मिहिर···कहते जाओ···मैं तुम्हारे मन की गहराई में तैरती

सीपियों के रंग पहचानना चाहती हूं'''फिर ?"

"जाने कितनी रातों को सोचते-छटपटाते काटा कि दिन-वर्षों की जर्जर नाव खेने के लिए मजबूत पतवारें कहां से लाऊंगा ? बचपन का मासूम हृदय जाने कब प्रौढ़ बन गया ? बस सोचना, चुप रहना'''भीतर की दुनिया में दिल-दिमाग कैद हो गया'''शून्यता के साथ चिंतन बढ़ा कि चाहे कुछ भी हो, संघर्ष की चट्टान पर उम्र को कसना पड़ेगा ही''' पक्का इरादा बांधा कि चलो चक्षु नहीं हैं, तो ज्ञान चक्षु प्राप्त करूंगा''' खूब पढ़ूंगा'' ताकि यह दुनिया अपने मतलब के लिए मेरी मजबूरियों का शोषण न कर सके ' स्वार्थ का ग्रास न बनाए'' "

"रुको मत तुम ' जो भी नीली अनाम गुफाओं में तुमने अपनी भावनाओं के उजले मोती बटोर कर सजोए हुए हैं, उनकी झलक मुझ तक आने दो'''"

"सीखी फिर ब्रेलपिपि ' साथियों की सहायता से आत्मविश्वास के साथ पढ़ने लगा'' स्कूल से कॉलेज फिर यूनिवर्सिटी। साथियों में जहां सहायक थे, वहां ऐसे भी थे जिनके व्यंग्य, उपहास-तिरस्कार भी खूब सहे। यही सब उपेक्षा घर में भाई-भौजाई, बहन और उसकी ससुराल से भी मिलती रही'''पर जानती हो सुमि ! इन सबने मुझे और भी दृढ़ता दी '''अन्तर्मुखी चिंतन दिया'''आखिर वह दिन आया जब मैं अपने पैरों पर खड़ा हो गया'''वह दिन मेरे जीवन का सबसे ज्यादा खुशी का दिन था।"

इसी तरह एक दिन वह सेमीनार में मिल गया'' दो दिन तक तो व्यस्तता में एक पल भी नहीं मिला'''जब इससे अवकाश मिला, तब दोनों को एक-दूसरे का ध्यान आया। लंच के बाद कोहरे में लिपटी पहाड़ियों की तरह ही बेहद उदास होकर बोला था—

"सुमि ! तुम तो एकदम पगला गई हो ! क्या कहो तो क्यों मेरे लिए घर भर से संघर्ष कर रही हो ? मानता हूं कि तुम्हारी फैमिली उदार विचारों की है'''जानती हो तुम्हारे डैडी और मैया का पत्र आया था कि वे दोनों ही तुम्हारी इच्छा के आगे झुक से गए हैं'''लेकिन मैं जानता हूं कि उन्हें इसके लिए कितनी मानसिक पीड़ा भुगतनी पड़ रही

है। कौन अपनी सुन्दर स्वस्थ और शिक्षित कन्या को देना चाहेगा एक नेत्र-हीन व्यक्ति को ?

"क्यों भला ! ऐसी बातें तुम अपने आप मेरे बारे मे क्यों सोच लेते हो ? अपनी भावनाओं को बुनते रहो, ठीक है, लेकिन मेरे पास भी अपने लिए कुछ भावनात्मक बुनावट है कि नही...?"

"तुम नहीं समझ सकती कि तुम्हारे निर्णय ने मेरी पूरी मानसिक शांति छीन ली है। अपने आपको सचमुच मैं अपराधी मान रहा हूं··· तुमने, तुमने सुमि, मेरे मन के सोये तार झनझना डाले हैं···ईश्वर ने जो अंधी नियति दी है, तुम क्यों इसमे अपना आंचल बांधना चाहती हो ? उम्र की एकांत सजा की चिता मे मुझे ही सुलगने दो सुमि···बचपना मत करो।"

पूरा पहाड़ी सौन्दर्य उदास हो उठा था। पहाड़ो, घाटियों और पग-डंडियो पर महकती मसूरी जैसे टीस उठी थी। सारा कोहरा सिमट कर मिहिर के चेहरे पर छा गया था। दर्द से उसका हृदय फटने को हो उठा था। यह भी उस दिन पहली बार खुलकर अपना मन रख सकी थी···

"मिहिर ! मैं चाहती हूं कि तुम्हारे पांवों में अपनी दृष्टि की धूप बाध दूं···तुम इसे कच्ची भावुकता समझते रहो, पर यह मेरा अंतिम निर्णय हो चुका है कि मैं तुम्हारे विश्वास की नीव, धैर्य की उंगली और मुस्कान की चमकती सतह बनू। तुम्हारे मन का अंधेरा खुशियों की रोशनी से भरना चाहती हूं···मैं वह अधिकार लेना चाहती हूं मिहिर, जिसके द्वारा तुम्हारी इन सूनी पलकों मे मीठे स्वप्न तैरा सकूं·· मैं बनूगी तुम्हारे लिए मजबूत पतवार।"

पर वह कुछ नहीं बोला था···यों ही खामोश रहकर पूरी शाम गुजार दी थी। डैडी-मम्मी से अलग उलझना पड़ा था उसे। भैया तो बार-बार कहते रहे कि···सुमि ! तेरा तो दिमाग एकदम सड़ गया है, जिन्दी मक्खी कैसे निगल लें हम लोग ? माना कि सब ठीक है···उसमे लाखों गुण हैं, पर सब यही कहेंगे कि सिंह परिवार की अपनी लड़की में तो कोई कमी नहीं है ! बोल, किस-किस को तेरा आदर्श सुनाते फिरेंगे हम···और कौन यकीन करेगा इस पर ! और कहीं तेरी कोरी भावुकता ही किसी दिन लड़खड़ा

कर सत्य से मुंह मोड़ने लगी, तब ? सोचा है कभी इसका परिणाम। अरे पगली, अभी समय है, खूब सोच ले ! हमारा क्या है, तेरी खुशी ही अपनी खुशी है,'''लेकिन अच्छी तरह इस पर मनन कर'''यह गुड्डे-गुड़ियों का खेल नही है।

पर वह क्या सोचती ! खूब सोचकर मन से बातें करके ही तो यह इच्छा जाहिर की थी, लेकिन ऐसी ही कुछ शंका रिसर्च इन्स्टीट्यूट के गार्डन में मिहिर भी कर बैठा था'''

"तुमने अपना जीवन कोई मजाक समझ लिया है क्या रे सुमि ! कौन से क्षणिक आवेग के मोहपाश मे बंधकर तुम कहां अपना श्रृंगारिक—मन रख रही हो, कुछ होश है तुम्हें ? जिन हथेलियों पर तुम अपना सुहागनाम रचना चाहती हो, नही जानती क्या कि वहां प्रारब्ध के कितने क्रूर संकेत लिखे हुए है ? उम्र भर के लिए क्यों अपने कधों से एक अपाहिज नाम का बोझ टिकाना चाहती हो'' बोलो ?"

"क्या बोलू ? यह तुम नही, तुम्हारे मन का भय बोल रहा है मिहिर ? तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए'''मुझे प्रेरणा और स्नेह का संकेत देना चाहिए'''उल्टे निराशा के सागर में डुबो रहे हो'''तुम अपनी विवश कम-जोरी से बाहर आना ही नही चाहते'''क्यो ?"

"इस शून्य गर्त को पाटते-पाटते तुम स्वयं पथरा नही जाओगी ? जब तुम अपनी ताजा और कोरी उमंग मे सूर्य, चांद, वर्षा और धूप की बात करोगी'''जब अपनी खुशियों के रगों के साथ इनके भी प्रयोग जानना चाहोगी, तब भला मैं इनके क्या परिचय दूगा ?"

"मेरा मन इतना कच्चा नही है'''"

"छोड़ो सुमि इस मिहिर को यों ही'''मेरे निबिड़ अंधकार की सघनता तुम सह नही पाओगी'''बुरा मत मानना, मुझे शंका है कि तुम्हारी विचार शक्ति को आकर्षित करने वाले अनेकों जीवित प्रलोभनकारी क्षण मिलेंगे, तब तुम्हारे विश्वास की सतह चटख गई तो ? मैं बताऊं सुमि ? वास्तविकता की कटुता तुम्हारे रेशमी पलों को छील डालेगी, तब'''? जाने दो इस टूटे कगार को अपने नेह की जितनी शीतलता दे चुकी हो, जीवन को बहलाने के लिए बहुत है'''कही ऐसा न हो कि इसे फिर सूखना पड़े।"

"........."

"जानती हो कि भीगकर सूखना बहुत-सी दरारों को जन्म देता है··· और दरारों की बड़ी मर्मान्तिक पीडा होती है ! मुझे अपने दर्दों की तहों में ही लिपटा रहने दो···इन्हें उघाड़कर जीवन की सुवासित धूप में पीडा की कालिमा मत घोलो। व्यर्थ की कुछ गलत अनुभूतियों का अनुभव यदि तुम्हारी ओर से भविष्य ने सौंपा तो मैं सह नही पाऊंगा···मेरी उसी क्षण सबसे बड़ी मृत्यु होगी···सुन रही हो न !"

"मिहिर ! तुम्हारी ऐसी बातें ही तो मेरे निश्चय को और भी दृढ बनाती हैं···मुझ पर तुम्हे यकीन करना ही होगा···पर तुम्हारा दोष भी क्या है ! नारी मन का अध्ययन तुम्हे मिला भी कहां अभी तक? सभी रिश्तो में अभी तक तुमने केवल स्वार्थ और लांछना की गंध ही तो पाई है, लेकिन इतने से ही तो संदर्भ की ठोस परिभाषा नही दी जाती···तुम्हारे हिस्से कितनी खुशियां, कितने विकास और नूतन — अनुभव बाकी हैं, क्या तुम भाग्य के इन सकेतों को सचमुच नकार सकते हो !"

उसने कुछ उत्तर नही दिया था·· हरी घास पर सीधा लेटकर आंख बंद कर जाने किस चिंता में डूब गया था, आधे घंटे तक मौन उनके बीच बिछा रहा···एक लम्बी सांस खीच कर वह लेटे-लेटे ही बोला था—

"ओह सुमि कुछ समझ नही पा रहा हूं अपने मन को···तुम क्या करने जा रही हो, सब पहचान कर भी जैसे मूर्ख-सा हो उठा हूं···अपना बलि-दान यो करना कोई बहादुरी तो नही है न ? समाज की व्यवस्था, जीवन के मापदड, घरवालो का मनोविज्ञान, पड़ोसियों की आलोचनात्मक दृष्टि और रीति-रिवाजों के संस्कारों का दर्शन कहां-कहां मिटा पाओगी !··· कहो ? तुम ईश्वर की पूर्ण कलाकृति हो···क्यो किसी बीहड़ जंगल की कंटीली छाया मे इसे असुरक्षित रखना चाहती हो ? नही-नही सुमि, क्षमा करो, मेरा मन स्वीकार नही पा रहा है···नही···"

वह रोकती, तब तक तो वह तेजी से मुड़ गया था···अच्छा हुआ सुधीर सामने आ गया था, लेकिन वह मानी कहां थी ? घर वाले भी परिस्थिति के साथ समझौता कर उठे थे·· इन लोगों ने भी मिहिर को इतना स्नेह दिया था कि वह अपनी पुरानी व्यथा को भूलने लगा···पहली बार ड्राइंग-

रूम मे खुशी से उमग कर बोला था—

"सुमि ! आखिर तुमने मुझे पराजित कर ही दिया न ! लो, फिर चलो ··यही सही · आओ, मेरे हाथ थाम लो···मेरे पावो को अपनी रोशनी का धरातल दे दो···इस बुझे जीवन की राख पर अपने अनुराग का सौरभ छिड़क दो···आज से मैं स्वयं को सौंपता हूं तुम्हें···"

सुदर्शन चेहरे को आत्मा की प्रसन्नता ने और भी सौन्दर्य दे डाला था···वह भी उनके निश्छल समर्पण से खुशी से भर उठी थी। अचानक उसकी चूड़ियां छनक उठी। वह अपने विचारों की दुनिया से एकदम जाग उठी·· चूड़ियों की झंकार से वह चौंक उठी···आंचल सरक गया···

"कौन सुमि !"

"हां, मैं हूं···पर तुमने कैसे जाना ?"

वह आनन्द-विभोर हो चहक उठी···

"तुम्हारे आंचल की गंध, चूड़ियों का स्वर और तुम्हारी घबराई सांसों का कंपन···कहो, ठीक से पकड़ा न तुमको ! कितनी दुष्ट-चोर हो तुम ?"

एक निर्मल झरने-सी हंसी बहने लगी···

"मिले भी खूब · कही गए नही आज···?"

वह बच्चे सी मचल उठी थी···

"नही, तुम्हारा इंतजार जो था कि तुम अभी, इसी वक्त आ रही हो···" मंजीर छनक रहे थे···

"क्यों भला यह क्या ठीक था कि मैं आऊंगी और आज ही···अभी ···कल भी तो आना हो सकता था ?" कलकल नदिया लहरा उठी थी···

"नही, कल नही, आज ही आओगी···इस मिहिर का जन्म-दिन मनाने···बड़ा प्यारा केक लाई हो··मेरे लिए सुन्दर-सी भेंट भी···फिर पकड़ा चोर, पर हो एकदम कच्ची-चोर···"

वही निर्मल हंसी—"हाय राम, तुम्हें तो पुलिस मे होना चाहिए था।"

कमरे की फागुनी धूप में गुलाल घुल उठा था···चूड़ियों की जल-तरंग पर खुशियों के छंद बहने लगे थे···सागर ने बांहे फैलाकर सरिता को आत्मसात् कर लिया था···

जंगल में हाफती रेत की नदी

हम दोनों सगी बहने है। बडी दीदी शारदा बाईस वसंत देख चुकी हैं और मैने अभी केवल उन्नीस ही देखे है। बस यही हम दोनों में अंतर है, वरना शक्ल-सूरत, लंबाई-चौड़ाई और रंग मे हम दोनों बराबर हैं। उमर की पगडडी पर तीन साल आगे चलने के कारण वह नारी जीवन के सत्य को इसीलिए मुझसे अधिक गुन चुकी हैं।

उनका ज्ञान एक स्त्री की सीमा मे बंधकर अधिक गहरा और पक गया है। हमारे माता-पिता की आर्थिक दशा अधिक अच्छी नही कही जा सकती। यही कारण है कि वे सब चोचले, जो अक्सर घरेलू जीवन मे बच्चों को मिलते हैं हमे नही मिले। जाने कैसे वर्षा, गर्मी, सर्दी सहते हुए जंगली बेरी की तरह हम बढ़ती गईं···पनपती गईं।

दीदी रामायण-गीता से आगे नही बढ सकी, लेकिन मैने दाल-रोटी खाकर किसी तरह मैट्रिक पास कर लिया। एक बात और है, दीदी रही घर मे हमेशा शात सरल और परिश्रमी···और मैं कामचोर-सी···जिद्दी ··बचपन से ही तर्क करने की आदत होने के कारण मेरी आदत मे विद्रोही भावना अधिक पनप गई।

रुपये-पैसे की तंगी, ऊपर से बढती महगाई को ध्यान में रखते हुए बाबूजी ने हम दोनों बहनों की शादी मंगल दिन देख एक ही मढये के नीचे एक ही दिन कर दी।···लेकिन बाराते हम दोनो की अलग-अलग गांवों से आई थी।

मेरी ससुराल मे ये दो भाई हैं···बड़े जेठजी तो खेती-बाड़ी का काम कर घर की गाड़ी खीचते हैं और मेरे पति शहर मे क्लर्क हैं। सास-ससुर बहुत दिन पहले ही ईश्वर के धाम की यात्रा पर जा चुके थे।···लेकिन दीदी की किस्मत ने यहां भी जोर मारा था। उन्हें बड़ा ही अमीर, खाता-

पीता घर मिला। गाव मे ही सब संपन्न रूप से रहते थे। कपड़े की एक दुकान थी, जो खूब चलती थी। उसी पर मेरे जीजाजी व दीदी के ससुर बैठते। जेवर-कपड़ो की दीदी पर कमी नही रही, परन्तु सभी अमीरो की तरह उनके ससुराल वाले भी दूसरों के लिए बडे कंजूस थे, क्योंकि एक-दो बार छोटे भाई का वहां जाना हुआ, तो उन लोगों ने बडे सस्ते कपड़े और विदाई पर एक रुपया दिया।

किसी भी क्षेत्र मे मेरी और दीदी की होड नही हो सकती थी, लेकिन हम दोनो मे एक-दूसरे के लिए बड़ी गहरा प्यार था। दीदी ने आज तक मेरे सामने न तो कभी अपने घर की डींग मारी और न जेवर-कपड़ो का दिखावा ही किया। हम दोनों जब-जब भी मिली, खूब प्रेम से मिली।

अक्सर देखा गया है कि खाते-पीते घर की औरतें कभी पूरी तरह से संतुष्ट नही रहती। दीदी को भी शिकायत थी कि शामिल की गृहस्थी में उनका मन नहीं जुड़ता। भाईयो मे तो खैर निभ जाती थी, लेकिन देवरानी-जिठानी मे नही पटती थी। दीदी फिर भी सुलह करने की कोशिश करती, लेकिन जिठानी तो जैसे बारूद का गोला थी, जो हर घड़ी इधर-उधर आग बरसाती रहती थी। घर के किसी भी प्राणी से उनका मिजाज नही मिलता था। लाल मिर्च-सी पूरे दिन तनतनती रहती। छोटी-छोटी बातो पर तू-तू, मैं-मैं होती रहती।

सबसे ज्यादा दुखी तो उस परिवार में मांजी थी···दीदी की सास। दो-दो सपूत पैदा करने के बाद भी उनकी आत्मा प्यासी-सी भटकती रहती। सत्तर वर्ष की उम्र मे भी उनके जी को चैन नही था। घर की कांय-कांय और बडी बहू का खाऊ-फाड स्वभाव उनके प्राण खाए रहता था।

बुढ़ापे के हाथ-पैरो को घड़ी भर भी आराम न था। जब भी दीदी उनके कष्टो का वर्णन करती, तब मैं यही कहती—

"दीदी ! तुम कम-से-कम अपनी ओर से उन्हे कोई कष्ट न देना।" दीदी जवाब देती—

"अरी, उस कबाड़खाने मे मेरी क्या वकत है !"

दो साल पहले दीदी के लड़के का मुडन था। गुड़गांव वाली शीतला-मां की जात बोली थी। हमें भी बुलाया था। सोचा, चलो इसी बहाने

उनकी सास को देखने और कुछ सेवा करने का मौका मिल जाएगा। मैं और मेरे पति दीदी की ससुराल गए।

सफर मे सबसे बडी परेशानी रही कि स्टेशन से दीदी की ससुराल के गांव का रास्ता तीन मील कच्चा था। न किसी आदमी का प्रबंध, न किसी सवारी का इंतजाम। जब रेल से हम उस अधमरे से स्टेशन पर उतरे, तो चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। स्टेशन क्या था, बस एक थी खपरैल की छोटी-सी गुमटी···सामने टीन···एक दो नीम के पेड़ और दो टूटे शीशों की चिमनियां। थोडी दूर पर दो बड़े पत्थर के ढोको का सहारा देकर एक पटिया डाल रखी थी · शायद मुसाफिरों को बैठने के लिए। बाईं ओर दो कच्ची दीवारों पर सिरकी डाले एक दूकानदार बीडी-पान रखे गुड़ के मोटे सेवों पर से मक्खियां-ततैये उड़ाने की बेकार कोशिश कर रहा था।

ट्रेन तो थोडी देर बाद चली गई। रह गई शहरी निस्तब्धता मे पिंडुक की उदास बोली और दो-चार यात्रियो की उपस्थिति। मेरे पति के चेहरे से झुंझलाहट साफ जाहिर हो रही थी कि वह बाबुओं जैसे कपडो से तीन मील की गर्द फांककर कैसे कंधे पर बक्स-बिस्तर लेकर चलेंगे। समस्या तो बेशक थी ही। मैं भी कम गुस्से में नही थी, क्योकि दीदी को अपने आने की तारीख दे चुकी थी। उन्हे कुछ प्रबध हमारे लिए करना जरूरी था। अजीब मानसिकता मे दबे हम खड़े थे।

···तभी खेतो मे से भागते हुए कुछ नंग-धड़ंग बच्चे आए और बडे कौतूहल से हमें देखने लगे। पता लगा कि ये दीदी ने भेजे हैं हमे ले आने के लिए। मेरे पति के चेहरे का तनाव कुछ ढीला हुआ। दोनों बालकों के हवाले बक्स-बिस्तरा कर हम वहां से चल दिए···

खजूर, सिरस और कीकर के छितरे-बिखरे पेड़ो के बीच कच्ची और ऊबड़-खाबड पगडंडी पर मेरे पति रोते-झीकते चल रहे थे। जैसे-जैसे गाव नजदीक आने लगा। यहां बात कुछ और थी। शहरी जीवन का शोरगुल, घिचपिच मकानों की कतारें, दुर्गन्ध देती गलियां सभी जैसे इस खुले वाता-वरण मे छिप गईं। हरे-भरे खेत, चरस ढोते किसान, उन्मुक्त हवा, भेद-भाव से दूर सीधे-सादे ग्रामीण और सहज-संकोची स्त्रियो को देख रास्ते की सारी थकान मिट गई।

घर पहुंचे। दर्वाजे पर पीपल का घना पेड था। छोटी-सी कुइयां, जिसमें रस्सी में अटका डोल पड़ा था। कच्चा चबूतरा, जिस पर बड़े-बड़े मजबूत तीन चार पलंग पड़े थे। दो-तीन हुक्के रक्खे थे, शायद यही दीदी की ससुरालवालों की चौपाल थी।

दरवाजे पर उनके दो लड़के खेल रहे थे जो हमें देखते ही गला फाड़ कर चीखे···घर से आंगन और आंगन से चबूतरे तक उन्होंने हल्ला मचा डाला·· "मौसी आ गई···मौसा ! राम-राम आदि।" मेरे पति बाहर ही बैठ गए···मैं भीतर चली गई।

शाम का झुटपुटा हो गया था। गाव मे दीया-बत्ती जलनी शुरू हो गई थी। घर में घुसते ही मेरी नजर पहले जिस पर पड़ी, वह थी एक वृद्धा, जो कांपते हाथों से परात मे ढेर सारा आटा गूधने की कोशिश कर रही थी। सिर डुगडुगी-सा हिल रहा था। अंदाज लगाया कि यही होंगी दीदी की सास ! मन में बुरा लगने के साथ ही तरस भी बड़ा आया। भला ये तनी तात-सी नसों वाले हाथ इतना ढेर-सा आटा कैसे काबू मे कर रहे होंगे !

मैंने झुककर उनके पैरों से आंचल छुआ कर नमस्कार किया। वह ओठों मे कुछ बुदबुदाई, शायद आशीर्वाद दिया होगा। मेरे सिर पर स्नेह का हाथ फेरने के लिए उनके हाथ खाली नही थे···कुछ ऐसा आभास मुझे उनके मुंह पर आई करुण-सी मुस्कान से हुआ। बाहर से आए मेहमानों के सामने वह कुछ अस्त-व्यस्त-सी हो उठी। बरौनियों से विहीन पलकों की छाया से ढपी उनकी धुंधली-मैली-सी आंखें···जैसे किसी दूसरी ही वीरान-उदास दुनिया मे भटक रही थी।

उन्होने फिर आटा गूधना शुरू कर दिया। मैं सामने मैले कपडों से लदी चारपाई पर बैठकर उन्हें देखने लगी। आटा उठाते समय उनकी कमर कमान-सी टेढी होकर लचक जाती थी। मन मे आया कि कह दू, कि— "लाओ मांजी ! मे गूथ दूं।"···परन्तु दीदी की जिठानी के मिजाज सुन रखे थे और अब तो देख भी रही थी। कौन आया, कौन गया···इससे उन्हे जैसे मतलब नही था। ढेरो चांदी-सोना लादे घर भर में छमक-छमक रही थी। कभी मैं तो मांजी के हाथों से आटा लू और वह कहीं

कह उठें—"बस-बस, यहिन रहने दो, सास पर हेज टपकाना हमे भी आता है, हाऽऽ···" तब भला क्या मुह रह जाएगा मेरा ! फिर मैं कितने दिन मांजी को आराम दे सकूंगी !"

मेरा सोचना बेकार न था, क्यों कि थोड़ी देर मे ही मैंने देख लिया था कि जेवरो की झनझनाहट के साथ-साथ जुबान भी उसी गति-लय मे चल रही थी। उन्हें यह भी लिहाज न था कि मैं बाहर से आई हूं·· कुछ देर तो ऊपरी बर्ताव निभाए।

मेरा ध्यान मांजी की ओर फिर गया। रुई से धुने सफेद बाल उनके कानों को और माथे को घेरे छितराए पडे थे। रोज-रोज सफाई और जुओ के झंझट से बचने के लिए शायद बड़ी बहू ने कटवा दिए थे।

न जाने क्यों मेरा जी घुटने-सा लगा। वहां दो दिन ठहरी। दोनों दिन देखा कि मांजी बड़ी असहाय-सी सबकी ओर शून्य-रीती नजरों से तकती रहती थी। बीच मे बोलना, सलाह देना शायद वह छोड़ चुकी थी, या छुडा दिया गया था। कभी कुछ बोलती भी, तो गिडगिडाती हुई सी··· साथ ही सबके चेहरे डरती-डरती देखती जाती कि कोई बुरा तो नही मान रहा।

झुर्रियो भरे चेहरे और पीली-मटमैली आंखो मे एक याचना-सी, एक चाहना-सी तैरती रहती। मकडी के जालों की तरह माथे, ठोढ़ी की हजारो सलवटें जाने कितनी वेदनाएं समेटे पडी थी। पूरे घर मे नाती-पोतों से लेकर बेटे-बहू तक उनकी इज्जत नही करते थे। कभी वह यदि लेट जातीं कमर सीधी करने को या थोड़ी देर को चक्की के पाटो का सहारा ले बैठ जाती और तभी उधर से बड़ी बहू या कोई-सा बेटा निकल जाता, तो अपराधिनी-सी हड़बडा कर खड़ी हो जाती और व्यर्थ-सी एक खिसियाहट भरी झेंप उनके चेहरे पर बादल-सी गहरा उठती थी।

मैं तो जब भी उन्हें देखती तब यही पाती कि या तो झूठे बर्तन मल रही हैं, या झाड़ू लगा रही है, या गोबर के उपले थाप रही है। कुछ न कुछ उन्हें करना था···डरती रहती थी कि कोई उन्हें बेकार-निठल्ली बैठी न समझ ले। घर धंधों से छुट्टी मिलते ही जिठानी जी उनकी टेढ़ी कमर पर पोते-पोतियों को लाद देती थी। पति की मृत्यु के बाद शायद उन्होंने बहू-

बेटों के राज्य में न अच्छा खाया ही, न अच्छा पहना ही। आराम तो जैसे नसीब से दूर हट चुका था। दीदी यदि कभी चोरी-छिपे उनकी कोई इच्छा पूरी कर भी देती, तो जिठानी जी पूरी कैकेई का पार्ट अदा करके भयंकर-कांड मचा कोप-भवन की शरण ले लेती। बेटे भी मा का दिल दुखाने में कोई कसर नही रखते थे।

आज दीदी के लडके के मुडन के उपलक्ष्य मे गांव भर का जीमना और गाना-बजाना था। सुबह से ही उमस बढ रही थी। कही-कही आवाराओं की तरह बादल मंडरा रहे थे। उस दिन जिठानी जी का उठते ही सवेरे-सवेरे मांजी को हुक्म मिला कि वह बाहर पड़े सारे उपले उठाकर भुस वाली कोठरी मे चिन दें, नहीं तो बूदो मे भीग जाएंगे। साथ ही तीन दिन की जो गोबर की हेल पड़ी सड रही है, उसे सामने बैठकर कालू की बहुरिया से थपवा दें।

अंत मे अपने पर संयम न रख सकी और धोती का पल्ला कमर मे खोंस लग गई माजी के साथ। उपलो की संख्या देख मेरा दिल दहल गया था···परन्तु माजी डर के मारे मुझे बार-बार काम न करने के लिए मना करने लगी। तब हार कर मे बोली—

"अच्छा लो मैं कोठरी के दरवाजे पर खड़ी हुई जाती हू। तुम देती जाओ···मैं जमाती जाऊंगी।" इस पर वह बड़ी कठिनाई से राजी हुई—

"बिटिया! हमारे तो करम जले भये हैं, तुम काहे खटती हो? कल-परसों चली जाओगी, तब कौन हमे देखने बैठा है।"

"ठीक है मांजी·· पर जब तक हूं, तब तक तो हाथ बटा दू···अरे! आपका तो माथा एकदम तवे-सा तप रहा है···चलिए, आप थोड़ा खटिया पर लेट जाइए। यह काम मैं कर लूंगी। आप आराम कर लें दो-घड़ी···"

भुस की कोठरी की दमघोट भकल से मेरी जान निकली जा रही थी। उधर मांजी की पसीने से तर काया कांप रही थी। सांसें फूल रही थी। पोपला मुंह चिड़ियां की चोंच की तरह खुला हुआ था। जैसे-तैसे काम खत्म करके मैं तो भीतर चली गई और नहा-धोकर खाना-खाकर नीम के नीचे खटोले पर लेट गई···ठण्डी हवा के झोंको ने कब सुला दिया, कुछ पता नहीं चला···जैसे ही तड़-तड़ा कर बूंदें गिरीं, तब उठकर-

आकर देखा कि माजी अपनी गुदड़ी सिलने मे घुटनों तक झुकी पडी थी:"
आज भूले हुए सारे संदर्भ आंखों के आगे तैर उठे। वेचारी वेटे-वहुओं से डरती रही, भय से नहीं, केवल इज्जत के लिए। विचारों की धुंध से जैसे एक तस्वीर उभरी माजी की, जो गीली-गीली आंखो को पोछ बोल उठी--

"बिटिया ! आखिर भूखा-प्यासा मार ही डाला उन्होंने मुझे, ये मेरे वेटे नही हत्यारे हैं।" मैं चौंक उठी अपने ही विचारो के विषाद से। ओफ ! दुखी आत्मा से बिलखती हुई उन्ही मांजी का भोज हो रहा है, वह भी विशाल पैमाने पर धिक्कार है"'सौ वार लानत है ऐसे घर पर, ऐसे वेटों पर और ऐसे रिश्तो पर"'। जो बेटे उन्हे जीवन मे अच्छा खाना-कपडा तक न दे सके, वही अब ब्राह्मणों को वस्त्र-दान देंगे। जो कभी सीधे मुह मां, से नही बोले, दुख-दर्द नही पूछ सके, वही अब उनकी मौत के बाद दान-पुण्य कर रहे हैं। क्या खूब श्रद्धा का नमूना है ! देखो बेटे हो तो ऐसे हो"'। अजी, वडी भाग्यवान मां थी "' आदि की वाहवाही लूटने को उनके बेटे बेचैन हो रहे हैं शायद ! हो सकता है इसमे भी उनका निजी स्वार्थ झांक रहा हो !

मेरे विचार उन्मुक्त हो रहे थे। एक कड़ी चलती थी कि दूसरी शुरू हो जाती थी। इस भोज के बहाने जाने कितने लोग उंगलिया चाट-चाट कर चटखारे लेंगे ! महंगाई का जमाना और यह अन्न-वस्त्र-रुपयों का दुरुपयोग। जाने कितने दिनों तक घर के बालक-बूढ़े बची मिठाइयां और कचौरियां खाकर तृप्ति की डकारें लेंगे ! जो स्वयं भूखे पेट गई, प्यास से जिनके ओंठ पपड़ा गए, उनके लिए पितर जिमाए जाएंगे। भला भूखी-प्यासी-दुखी आत्मा अपनी मौत का यह खेल देखकर क्या और भी संतप्त न होगी !

इन्हीं ख्यालो की झाड़ियों मे उलझती-अटकती मैं दीदी के दरवाजे पर एक बार और जा पहुंची। चौपाल वाले कुंए की जगत पर जीजाजी व उनके बड़े भाई अच्छे-खासे बैठे थे कि हमें देखते ही चुसे आम की गुठली जैसा लंबोतरा मुंह बनाकर आंखों पर धोती छुआ बिसूरने लगे। मैं भला क्या कहती ऐसे में ! बस सोचने लगी कि क्या ये सच्चे आंसू हैं ! इस नये

वातावरण मे बिखरे हुए तेल की भांति मैं अपने को समेट नहीं पा रही थी। मेरे पति के चेहरे पर *विद्रोह कुछ और कठोर हो उठा था, वह एकदम चुप थे।*

तभी दीदी मुंह पर पल्ला डाले हिचकियां लेती दरवाजे पर आई और मुझे भीतर ले गईं। घर मे घुसते ही वहा का वातावरण ही बदल गया। सभी अपना काम छोड 'हाय-हाय' करने लगे।

मुहल्ले-भर की जिस स्त्री ने भी सुना कि छोटी बहू की बहन शहर से आई है, बस लपक पड़ी देखने को। दर्वाजे तक आकर पहले उत्सुक नजरों से मुझे देखती और जैसे ही मेरी नजर उनसे मिलती कि फौरन मुंह ढंक स्यापा पीटने लगती। अजीब तमाशा था ! केवल ऊंची, खोखली-आवाजे, हर आवाज की यह कोशिश की बारीकी और तेजी मे सबसे ऊपर रहे। पर्दे के भीतर कितने आंसू थे, यह मेरी आखे भेद नही पा रही थी ! पल-भर गला फाडकर फिर सभी सामान्य"'रोने का ऐसा पाखण्ड क्यों भला ?

मै रो तो नही पा रही थी, लेकिन मन मे आंधियां चल रही थी। मूक चीखों के बबूले उठ रहे थे। यादो के दरख्त चटख-चटख कर गिर रहे थे। घर भर मे घी के लड्डुओं की गंध हठीली नायिका-सी मंडरा रही थी, जिसे चखने-छूने को सभी मचल रहे थे। दृष्टियां लोलुप बनी हुई थी थोड़ी देर तक शोक-संवादो का तांता लगा रहा"'माजी के गुणों का बखान उदारता के साथ होता रहा लेकिन दस मिनट के बाद ही फिर शुरू हो गया—"मैदा कहा है?"...."चासनी बन गई है"...."बूदी लाओ"... "न्यौते सभी पहुच गए या नही ।" आदि।

बडी बहू ने बक्से में जो दो-चार चांदी-सोने के गहने और कपडे रहते थे, आज वे भी लटका लिए थे। चारों ओर नथनी हिलाती और बिछुए बजाती फिर रही थी। चखने के बहाने नमकीन-मीठे दोनो से ही हाथ-मुह चल रहे थे। आंखें संतुष्टि से चमक रही थी।

मैं अचंभे मे थी कि अब किसी के मुह पर न उदासी थी, न मांजी का नाम। दिन पहाड़ हो गया था। मे रात का इंतजार कर रही थी, ताकि सोने के बहाने एकांत मिले। बड़ी इंतजारी के बाद रात झुक आई।

बिना कुछ खाए-पिए मैं ऊपर छत पर एक कोने में दरी बिछाकर लेट

गई। विचारो के आरोह-अवरोह में मांजी की स्मृतियों का संगीत सुनते-सुनते कब परियों के देश मे पहुंच गई, मुझे पता नही। -

सुबह एकाएक शोरगुल सुनकर मैं चौंकी। रात की करवट सुबह की अंगड़ाई लेकर जाग उठी। छज्जे से झांक कर देखा आंगन मे मजमा लगा था। तो क्या सुबह से ही खाना-पीना शुरू हो गया !

चिल्ल-पुकार मच रही थी। कैसे मान लेती कि इस हाय-तोबा में एक घड़ी को भी मांजी की याद किसी को आ रही थी ! मैंने देखा कि कचौ-रियों की चरपराहट और लड्डुओं की मिठास लेने के लिए हर व्यक्ति व्याकुल-सा अपने लिए पहला स्थान-पत्तल पाने की कोशिश में था। कंधे-सिर एक पर एक झुके-टूटे जा रहे थे···

बड़ा वीभत्स दृश्य लग रहा था। मेरा मन तो इस पर्व की महत्ता के ज्ञान से ही उबकाइयां ले रहा था। भूखी-प्यासी माजी के भोज पर परोसी गई पत्तलों पर बैठे ये लोग मुझे उनकी लाश पर टूटते हुए चील-कौवों और गिद्ध की तरह लग रहे थे।

कुछ लोग अलग बैठे अगली बिछावन का इंतजार कर रहे थे। उन लोगो की आंखें खाने वालों के हाथो के साथ-साथ नीचे-ऊपर हो रही थीं। हर एक की आंखें ही रसना बनी लपलपा रही थी। मुझे लगा कि ये लोग श्मशान मे पेड़ो की डाल पर बैठे गिद्धों की पांतें हैं, जो मुर्दे पर टूटने ही वाली हैं।

लो, उधर उसारे के नीचे बड़े बेटे आधो में नकली चिकनाई भर कर ब्राह्मणों को कपड़े दान कर रहे थे उनके नाम पर, जो इन आंखों की एक स्नेहिल झलक देखने के लिए पैरों की धूल बन गई, लेकिन गर्म अंगारे गा-पा कर तप्त लुएं बन झुलसती रहीं। जैसे हू-हू करती कोई प्यासी रेतीली नदी जंगल में दौड़ती-हांफती रहती है, इसी तरह मांजी अपनी जिन्दगी के आखिरी सफर मे इन क्रूर और भावहीन रिश्तों के पीछे गिरती-पड़ती भागती रही···ओठों मे कराहटें पीती रहीं···दो ठण्डे बोलों की गंगाजली-बूंदें कहां मिलीं उन्हे ! क्या कभी-कभी रिश्ते इतने बौने हो जाते हैं ?

मैं छज्जे पर अधिक देर खड़े रहकर यह दृश्य नहीं देख सकी। कल से अब तक जो सैलाब रुका हुआ था, वह आज आंखों की राह बह निकला।

आह, मांजी ! तुम भटक गईं एक-एक स्वाद को, ललकती रही दो मीठे बोलों को। कपड़ों पर जाने कितने दर्दीले पैबंद लगाकर बूढ़ी लज्जा को छिपाती रहीं। जाने कितने अपमानों के जहरीले घूट पीकर तुमने रातों को अपने थके-जले पलकों पर आसुओं के शीतल झरने बरसाए। अब एक बार तनिक झांक कर देख तो लो अपनी अंतिम शोभा यात्रा का उत्सव··· इन भूखे भेड़ियों की चटाख-चटाख चाटती हुई उंगलियों में सुन लो अपनी चित्रवेला की शहनाई। लम्बी उम्र का दर्द जीकर जब इतने दिन इस घर की दीवारों के भीतर सुबकती रहीं, तो दो क्षण और ठहर जाओ जरा मुड़कर इस महफिल पर एक नजर तो डाल लो···

नीचे से फिर एक तृप्त अट्टहास-उठा···जैसे बबूल के कई कांटे हथेली में चुभ गये हों !···लेकिन इस छत से भी दूर कहीं एकांत है, जहां मां जी की छाया न हो ! ये अट्टहास न हो···

पगडंडियों का मोह

सलमा चाची की आंखों से आंसू थमने का नाम नहीं ले रहे थे। वह बार-बार सोच रही थी कि उठकर सामने वाली लिपी-पुती चौंतरी पर बैठकर इतमीनान से रोएं, क्योंकि जहां वह बैठी थी, वहां चारों ओर बकरी का चारा-पाला बिखरा पड़ा था, जो कभी पैरों में और कभी हथेलियों मे चुभ रहा था।

उन्होंने दुपट्टे के छोर से आंखें पोंछी और धीरे-से उठकर एक तरह से घिसट कर चौंतरी पर बैठ गईं। माथे पर हाथ फिरा कर देखा तो बंधी पट्टी पर खून रिस आया था। कमर में अलग मीठी-सी चिलक चल रही थी। एक हाथ की चूड़ियां ऐसी टूटी कि कलाई से कोहनी तक छोटी-लंबी कई खरोंचें बन गई थीं। घुटने की टोपी पर अलग तीन-चार नीले चकत्ते उभर आए थे।

बुढापे की मट्टी कैसी ख्वार हुई, यह सोचकर आंसू फिर झलझला आए।,उन्होंने होठों का कस कर दबा लिया। पोपला मुंह रुलाई की हवा नहीं रोक सका और बच्चों की तरह हिलक उठी। रात की घटना उनकी धुंध-भरी पुतलियों में नाच उठी।

रात की बात…! गाव के सारे दिये बुझ चुके थे। चौपाल के हुक्कों की राख भी ठंडी पड़ चुकी थी। तभी उनके दरवाजे परकुछ खटका-सा हुआ। पास पड़ी खाट के झंगोले में सोये मजीद को झकझोर कर उन्होंने कहा कि जाकर देखे हवा है या कोई आफत है! उठ तो जरा…।

उनका दिल इन दिनों जरा-सी आहट से भी कांप उठता था। कैसी मुश्किलें पैदा कर दी थीं आदमी जात ने! गांवों में सूखा क्या पड़ा कि हर बंदा अपनी इज्जत-औकात भूल बहशीपन पर उतर आया है। जरा-सी चीज के लिए हाथ-पैर तोड़ देना, गर्दन काट देना मामूली बात बन गई थी।

या अल्लाह ! सब पर रहम कर'''

मजीद ने करवट बदलकर हां-हूं मे टाल दिया । "अम्मी ! तू सो जा । पुरवैया की झोंक होगी । कौन भूत-परेत आवेगा खाने ।" लेकिन सलमा चाची को नीद कहा ? वह खुदा का नाम लेती रही । जाने कब नींद आ गई । तभी छप्पर से कोई कोठरी की बगल मे कूदा । उनकी आखे खुल गई । साफ देखा दो थे । अंधेरे मे लबी-चौड़ी परछाईयां झलकी ।

उनके मुह से चीख निकली ही थी कि दो मजबूत हथेलियों मे आवाज घुट कर रह गई । बूढ़ी-सूखी हड्डियों मे थोड़ी कड़कड़ाहट पैदा ही हुई थी कि घुटने की एक ठोकर से कोने मे फालतू कपड़ों के गट्ठर जैसी ढेर हो गई । काली परछाइयों मे से एक ने उनके कानों की बालियां और गले मे पडे ठोस तावीजों की डोरी बड़ी बेरहमी से खींच ली । हाथों को जब मरोड़ा जाने लगा तब खरी चादी के खड़ुए-परीबंद उन्होने खुद उतार कर पटक दिये । कमबख्तों ने अंगुलियो की पंचगुथी गूज तक नही छोडी ।

अपने नगे हाथ-पैरों पर उन्होने दर्द-भरी नजर डाली । कानों पर हाथ फेरा । बालियों के बोझ से फटे छेदों मे अंगुलियां तैर कर रह गई । भाड सा गला चौपट मैदान सा पड़ा था । उन्हे लगा, जेवर नही गया, बल्कि कोई उनका कलेजा नोच कर ले गया है'''

मिया ने कैसी कड़ी मेहनत कर पाई-पाई जोडकर ये चीजें गढ़ाई थीं । बेवा हुई तो महीनों गम चाट गया, लेकिन हाथ-पैरों में पड़ी चादी को ही दूसरा शौहर मान जिंदगी जीने की तसल्ली कर ली थी । आज वह भी हाथ से निकल गई । 'हाय खुदा' कर उन्होंने कपाल पर हथेली ठोकी । तभी माथे की चोट कसक उठी । खुदा गारत करियो इन नासपीटों को । मरने पर कफन तक ना जुड़ियो इन्हें । सत्यानासियों ने नंगी-बूची कर कैसी नसें तोड़ डाली हैं ! इनकी औरतें मरघट की राख लपेट कर सिर नोचें । जरा-सा हिलते ही घुटने की चोट टीस उठी ।

रात की बीती फिर सामने आ गई । कोने में पड़े-पड़े उन्होंने तीन-चार बार मजीद को आवाज दी थी'''

"अरे भइये, देख तो सही । जुलम हो रया हैगा रे । अरे उठ तो सही, देख दोनों मिल के मारे रिया हैंगा मुझकूं ।"

पर मजीद का चादरा तक न हिला और वे दोनों जालिम उनसे लोहे की कील-पत्ती जड़ी काठ की बडी संदूक की ताली मांगते रहे और न मिलने पर मारते रहे। मरों की हथेलिया उनके मुह पर हथोड़े की चोट की तरह पड़ रही थी। दूसरा जो था, वह कमर में और पेट मे मुट्ठियां कौंच रहा था। अल्लाह करे हैजे की ढाई घड़ी निगल ले वैरी को। उसी ने तो उनके कमरबंद से तालियां खीच ली थी।

जेवर की मार तो सह ली थी···पर जैसे ही दोनों तालियां लेकर वक्से पर झुके, तो वह झपट कर उठी और दोनों के हाथों पर झूल गई। भला बक्सा कैसे लुट जाने देती ?

बक्से पर औंधी हो एक बार उन्होंने फिर मजीद को पुकारा था···

"अरे बेहया ! होश गुमा के सो रिया हैगा क्या ! मरजाद खो के अगर मरद सोए, तो सौ बेर लानत है ऐसी नीद को ! हाय घर लुटा जावे हैगा··· अरे छपरी से मुंह ऊचा करके जरा लगइयो तो हांक···मोहल्ला-टोला उठ जावे, तो ये चोट्टे भागते ही दीखेंगे···करियो जरा जल्दी···"

···लेकिन उनकी आखें फटी की फटी रह गई थी यह देखकर कि न जाने कब मौका देखकर मजीद भाग गया था। शायद पोखरी की ओर वाली टूटी भींत फांद गया था। खाट खाली पडी थी। चादर पैताने लटक रही थी। बस ढीले पड गए थे उनके हाथ। अब किसके सहारे जोर दिखाती। कलेजे में हूल-सी उठी।

जब कुछ बस नही चला तो बक्से के कुंदे से सिर टकरा दिया। कुंदा माथे के बीच बैठा। खून की तुर्री छूट पड़ी। चोरो ने उठा कर बाहर बकरी के चारे पर उन्हे पटक दिया। देखते-देखते उनकी खुली आंखों के सामने उनका जेवर-रुपया लूटा गया। कब रोते-कलपते सबेरा हो गया, उन्हे पता नही चला।

धूप का एक छोटा-सा कतरा छान की बंसवाटी पर उतर आया था। एकाएक उन्हें ख्याल आया कि शायद मक्की की हांडी में जो पाच सौ रुपये कपड़े की गांठ मे बांध कर रखे थे, वह बच गए हों ! उम्मीद ने उनके घुटने की चोट को क्षण-भर के लिए भुला दिया। धीरे-धीरे चलकर बक्से के नजदीक आई, लेकिन हांडी उल्टी पड़ी थी। मकई, तिल, चावल, गुड़ सभी

गडमड हो रहे थे।

सिर में चक्कर-सा आया। वहीं धप्प से बैठ गईं। पुराने ख्याल नोंचने लगे। इसी बक्से में हजार एक और पांच सौ एक कैसी मुश्किलों से जोड़े थे। रियाज मियां की सुनहरी दाढ़ी आंखों में तैर उठी। वह तो खुदा की अदालत में पहुंच गए, उन्हें जमाने-भर के दुख झेलने को छोड़ गए। पहले *क्या कम तकलीफें पाई थीं उन्होंने ! जब खुशियों में डुबाने वाला मिला तो* मौत ने अपना करिश्मा दिखाया।

सलमा चाची को सब बातें याद आने लगीं। मां-बाप जाने कब खत्म हो गए थे। मामू ने बिना देखे-भाले कल्लन खां से ब्याह दिया। जितना लंबा-चौड़ा जवान था, उतना ही दिल का ओछा था। क्या कमाता, कैसे कमाता, कभी बैठकर नहीं बताया। बस उनका उसके घर से रोटी का वास्ता भर था। दारू का आदी, चलन का ढीला···रो-रोकर दिन काटे थे उसके साथ उन्होंने···

इसी फूटी तकदीर पर सबर कर लिया···पर एक दिन दीये जले जो गया तो सात दिन तक नहीं लौटा। पता लगा कि दूसरे गांव की गैर जात महराऊ के साथ दक्खिन की ओर चला गया है। अब गुजर-बसर का सवाल आड़े आया। कैसे क्या जुटाया, यह कहां तक याद करें। खेतों में सिला बीना ! कपास चुनी। पीसना-कूटना किया। अकेली थीं···सो 'एक से दो भले' सोचकर अंधी कुजड़न को घर में जगह दी।

उमर ही क्या थी तब। चढ़ता दरिया था। रूखी-सूखी रोटियों ने शरीर में शहद घोल दिया था। दिन तो मेहनत-मजूरी में कट जाता, पर रातें खाने को दौड़तीं। प्यासी धरती सी चटख-चटख कर रह जातीं।

तभी आए रियाज मियां। कंधे पर खेस और दरियां। इस गांव से उस गांव फेरी लगाते हुए। पहले तो उन पर उड़ती-सी निगाहें पड़ीं। जी में आया बुलाकर एक खेस खरीद लें, पर लेतीं कहां से ! सिर के बाल ढंकने को दुपट्टा ही पूरा नहीं पड़ता था। दो-चार बार खेतों पर आते जाते टकराहटें हुईं, लेकिन बेमतलब सी-ही···

एक दिन मन न माना तो गांठ खोलकर पैसे गिने। खेस खरीदा जा सकता था। घर की और जरूरतों का क्या होगा ! देखा जाएगा। नेत्र

है बस। सेस से ज्यादा कुछ और था, जो मन को ज्यादा बहका रहा था। उधर रियाज खां के दौरे उस गाव मे जरूरत से ज्यादा बढ़ गए। आखिरकार हिम्मत कर छोटे-बड़े पैसे सामने पटक कर सेस का सौदा कर बैठी और उसी दिन से मन का सौदा भी हो गया।

रियाज खा की आंखों मे लाल डोरे खिच उठे। मुहब्बत उबाल ले उठी। ईमानदारी से साथ निभाने की कसमें खाईं। सच्चाई के कई इम्तिहान दिए। रियाज खां के लिए वह पागल हो गईं। सोचना भी क्या था! आगे-पीछे कौन बैठा था! एक दिन चुपके से अंधेरी रात में चार कोस चल कर रियाज मियां के छपरे मे जा बैठी।

ठोस पीतल के बर्तन, रजाई-गद्दे, बोरी भर अनाज और तीन सौ कलदार नगद···सबकी मालकिन एक रात मे ही हो गईं। बस उमर का फर्क था, सो क्या था! खुद पच्चीस की और रियाज मियां पैंतालीस के थे। लेकिन उनका-सा मजबूत बदन और शरबती चेहरा दस गांव के बीच देखने को नसीब नही था। दिन पंख लगाकर उड़ने लगे।

सात बरस बीत गए औलाद नसीब नही हुई। न हो, ऐसी आफत भी क्या थी! मियां की बहन लडका पैदा करते ही ठंडी हो गई थी·· आंखें भी नही खुली थी कि बड़े चाव से उस लडके को उन्होने अपनी गोदी मे डाल लिया। शौहर का प्यार तो भरपूर था ही, बच्चे की कमी भी पूरी हो गई।

रियाज मियां की आखें ऐसी गुलाबी थी कि जिधर नजर उठ जाए रस छिडक जाए। उन्हें डर लगा कि उन कातिलाना आंखो ने जब उन जैसी मेहनतकश औरत को दो दिन मे ही बेकाबू कर दिया, तो गांवो की फेरियों मे और भी तो गुल खिल सकते हैं!

यह मरी कौम भी तो ऐसी है कि चार-चार तो वैसे भी जायज औरतें रखी जा सकती हैं। नही, ऐसा वह बर्दाश्त नही कर सकेंगी। सो जो भी जमा पूंजी थी, इकट्ठी कर जमीन का एक नहरी टुकड़ा जुटा लिया और पखेरू को पिंजड़े में बंद कर लिया। मन को कैसा चैन मिला था कि अब रियाज मियां की सल्तनत की वही इकलौती बेगम थी···

बच्चा दस बरस का हुआ कि मौत ने उनके मियां को छीन लिया।

एक बार वह फिर अकेली रह गईं। मन पछाड़ें खा उठा। इतना प्यार मिला था कि उनकी दुनिया ही सूनी हो गई। खैर, फिर सबर से मन बांधा। नदी में बहने को तिनके का सहारा ही काफी है···

अब तो मजीद ही उनका सब कुछ था। और आज···! आज वक्त आने पर वही मजीद उन्हें पिटता देखता रहा! वह लुट रही थी और वह दुश्मनों के बीच उन्हें अकेला छोड़कर भाग गया! वह मजीद, जिसके लिए जमीन-आसमां एक कर रखा था उन्होंने! खुद भूखी सोईं, उसे चुपड़ी दी। अपने बालों का महीनों घोंसला बनाए रखा, लेकिन उसके शरीर में रोजाना पाव-पाव तेल चुपड़ा। सेरों तेल तो उसकी लाठी को पिला दिया। क्या काम आई लाठी की ताकत!

टसर के, जाली के, चिकन के कुर्ते हर ईद को बनवा कर दिए। खुद यों ही फटेहाल गुजर करती रहीं। मियां की याद कर कहीं दुख न पाए, सो मां-बाप दोनों का हक अदा करती रहीं। गांव-भर से आए-दिन उसके लिए झगड़ा मोल लिया। मजाल है, कोई बोली-ठोली तो मार जाए! मजीद के कसरती शरीर पर हाथ फेर-फेर कर उसकी जिंदगी के लिए जाने कितनी दुआएं मांगी। उसके गले में लटके तावीज पर लट्टू रहतीं। गांव में गर्दन तानकर चलती, भला किसकी मजाल जो उनसे दो बोल गलत बोले! देखा नहीं क्या उनका मजीद! एक पड़ जाए तो दिन में तारे दिखा दे। उसी ने आज उन्हें पिटता देखा और छोड़ कर भाग गया! जलील···डरपोक कहीं का! अरे वाह रे बेगैरत!···

आज पहली बार उन्हें ऐहसास हुआ कि अगर पेट का सगा होता तो भला यों भागता! खून का कुछ तो असर होना है! भाग ही ऐसे करम-जले निकले। दो-दो घर बसाए, लेकिन औरत का पूरापन नहीं ले पाईं। जली कोख वाली अधूरी औरत रहकर भला किस पराई जाए के लिए यों दुखी हो रही हैंगी? अरे बेरहम उन चोट्टों में और बेशरम इस मजीद में कौन-सा फरक रह गया? वो गहने-पूंजी लूटकर ले गए और इसने भरम का यह डोरा लूट लिया कि वह भी मां हैं···! मजीद उनका बेटा है···! कैसी खामखयाली पाले पड़ी रहीं आज तक?

तभी कलेजे में मरोड़-सी उठी कि क्या बेकार की गंदी बातें सोच रही

हैं। मजीद क्या पराया है, अपना ही तो है। अल्लाह सुनेगा तो और गारत करेगा। पेट के निकले कौन निहाल कर रहे हैं! रसूले जमींदार का बेटा बंदूक की नली बाप की छाती पर रख कर रुपये वसूलता है और नानक पटवारी का लड़का! खुदा बचाए! मां-बाप को सीधे ही बकता है। जहन्नुम मे जाए ऐसा खास अपनापन···

तभी तो परसों जब अल्लादीन की औरत अपने बांझपने को रो-कोस रही थी, तब उन्होंने कहा था—

"अये बीबी! क्यू हलकान हो रही हैगी! तू सबसे ज्यादा मौज में है। अरी आजकल की सी औलाद लेके क्या नीद हराम करनी हैगी! खूब खा और पैर फटकार के सो। या फिर मेरे मजीद जैसा बेटा तलाश ले। पर तुझे क्या मिलेगा! भला ऐसे लायक लड़के क्या यू ही मिल जावें हैंगे!"

तभी कांटा-सा चुभा·· क्या खाक लायक निकला! मुआ कैसा हाथ-पांव झाड़कर भाग निकला! भगोड़ा सारा किया कराया मिटा गया। जहन्नुम भी नसीब नही होवेगा इसे। क्या सोचे हैगा यह मन मे?

धूप ने आधा आगन घेर लिया था। उनका गला चटखने लगा। चाय-पत्ती की तलब हो आई। पान-तमाखू तक नसीब नही हो पाया था। गिलास उठाकर कराहते हुए बकरी का दूध दुहा। नीम बेहोशी मे ही रोज की तरह लोटा भर पानी उबालने को चढा दिया। सूखी घास पर अरहर की सूखी डंडियां, सरकडे सुलग उठे।

धुंए की कड़वाहट उनके चारो ओर फैल गई। अचानक होश आया कि इतने पानी का क्या होवेगा! अकेली के लिए एक गिलास बहुत था। पतीला-भर कहा खपेगा! क्या करें! सौंठ-चाय-गुड़ सभी घुल चुके थे। सारा दूध डाल दिया। अब चलो उबल जाने दो। न होगा, न्यादर—मियां की कुतिया को पिला देंगी। इस बहाने बेचारी के जिस्म मे सौंठ-गुड़ गिर जाएगा। कल रात ही तो ब्याई है। पाच गोल-मटोल पिल्ले उनकी नजरो में उतर गए। नासपीटे मजीद से तो अच्छा था वह एक कुत्ता ही पाल लेती। मरे चोट्टों को उधेड़ कर फेंक देता कि नही···!

चाय के ऊपर पपड़ी आ गई थी। गिलास मुंह तक उठाया कि हाथ

कांप उठे। होंठो की जुबिश नहीं खुली। अकेले कब पी थी चाय उन्होने ! चाय को ढक्कन से ढांप धीरे से दरवाजे तक आई। इधर-उधर देखा, कोई नही था। मर्द-औरत कहीं कोई नही···

गिलास दुपट्टे के नीचे लिया और सीधे पीपल वाले औलिया की मजार की ओर चल पडी। धूप का चिलका उनके माथे की चोट को और भी चिनमिनाने लगा। उन्हे अब कहां होश था ?

घुटना टूटा जा रहा था। जोड-जोड़ मे अकडन थी। कराहती-कूकती मजार तक जा पहुंची। देखा मजीद तकिये पर सिर लगाए चित्त सोया हुआ है। उसका पेट कमर से चिपक रहा था।

उनका मन भर आया। ओफ ! कैसा पड़ा है वे मा का सा ···। किसने कहा था इसे यों भूखा-प्यासा यहां झुलसने को ? अरे ! मै लुट ही तो गई, मर तो नही गई। चेहरे की झुर्रियो मे दिल का मोम पिघल उठा। सीढी पर बैठ उसके उलझे बाल सहलाए। बीस बरस की काया उनके हाथो मे दो बरस की हो उठी जैसे···

मजीद ने आखें खोली। करवट लेकर उनकी गोद मे विसूर उठा। तभी उनके ओंठ थरथराए। प्यार से झिडक उठी—

"हाय ! मुझे मौत आए, भला कैसा जगल मे आ पड़ा हैगा ! चल उठ चाय पी, घर चलकर चार बैठकें मार। देह कैसा मटिया रही हैगो ! चल जरा तेल का रगडा दे दू···। ले पी, मुझे भी दो घूट पिला।"

बूढी झुर्रियों में सतोष झलक उठा। अपना है, तो यही है। भला गांव वाले काम आएंगे क्या ? मिट्टी तो इसी के हाथो ठिकाने लगेगी। डर गया होगा, बच्चा ही तो है। बुढ़ापे को सहारा चाहिए न ! टूटी-लगडी कैसी भी सही, बैसाखी तो यही है न !

आगे-आगे मजीद और पीछे-पीछे खाली गिलास उठा वह चल दी। आंखो में चमक और पावो मे मजबूती फिर से आ गई थी···।

टूटते क्षणों का बोध

चंपा भौजी के पांव आज जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। पूरी देह तितली के रंगीन पखों सी उड़ी जा रही थी। जो घर उनको जड़, मनहूस और पराया सा लगता था, वही जैसे दूध में नहाकर दप्प से खिल उठा था। हर काम मे अतिरिक्त उत्साह जाग उठा था।

आज आंगन में खेलते बच्चे और बड़ों के ऊंचे बोल भी प्यारे लग रहे थे। खुद भी हरेक बातचीत, हंसी-दिल्लगी मे आगे बढ़-बढ़कर हिस्सा ले रही थी। आंगन, घर दीवारों में मजीरे से बज उठे थे···रसोई का पूरा काम उनके हाथ में हर दिन ही रहता था, लेकिन आज का मामला कुछ और था। हर चीज मे मन घोले डाल रही थी। बरसात मे खुले आसमान मे फैली चमकती धूप सी करार चौंधी उनकी आंखों में लहरा उठी थी।

पूरे आठ महीनों के बाद बाबू रामनाथ एक हफ्ते की छुट्टी पर घर आए थे। खूंटी पर टंगे कपड़ों ने और बरामदे मे उतरे जूतों ने जैसे पूरे घर मे चंपा भौजी के लिए अपनी दुनिया बसा दी थी। मर्दानी बैठक से उठने वाली उनकी आवाज ने उनके मन मे पूरा बसंत उतार दिया था। कब सुबह होती, कब दोपहर? सोचने समझने का हिसाब रहा क्या? कहां मिली सांस लेने की फुर्सत? पूरा हफ्ता हवा मे उड़ते तिनके सा कब बह गया, वो नहीं जान पाई?

देही फिर लस्त-पस्त सी हो उठी। उदासी की मुर्दानी परत पुतने लगी। उनका क्या, यों ही बौराई रहती, वह तो धोबन आकर बोली कि—

"कपड़ा चार दिन में ही तैयार करके जल्दी भागी हूं। बाबू कल जायेंगे, आखिर बक्स-बिस्तरा जमाते वक्त सामान सामने नहीं हो, तो कैसी मुसीबत हो जाती है! लो गिन लो···"

परन्तु एक-एक कपड़ा गिनते हुए ही कांप उठी थी…रुई की फुई से अच्छे उड़े दिन? गाड़ी भरा कुनबा होते हुए भी सारी उमर इसी चौवारे-आगन की ढंकी-ढुकी हवेली में काट डाली।

खुद तो बाबू बाहर नौकरी करते रहे और कुनबे की गाड़ी खींचते रहे। पैसा-पैसा कमा-बचाकर घर को ईंट-ईंट पर लगाते रहे। भाई-बहनों के शादी-ब्याह, मौत-कारज, पढाई-नौकरी, क्या नही बचा, जो माँ-बाप के इशारे पर करने नही रहे। जब मे ब्याह कर इस घर में आई, यही उमर गलाती रही। एक दिन भी चूल्हे-चक्की से पिण्ड नही छूटा। ज्यादा-से-ज्यादा पन्द्रह-बीस दिन मायके मे घूम-फिर आई। इधर तो डेढ़ साल से वहाँ भी जाना नही हुआ। मा-बाप की आँखें मुंदते ही भाई-भौजाईयों के तेवर गले से नीचे नही उतरे, तो चुप्पी खींच ली।

दोपहरी भर दिमाग मे आंधी-सी गहराती रही। हूक सी मन को बाध लेती कि बाबू कल चले जाएंगे, फिर? अचानक एक हिलोर सी उछली कि क्यो न इस बार वह भी बाबू के साथ चल दें?

उनकी नौकरी का राज भुगत आएं! वैसे भी नौकरी किनारे पर है। मुश्किल से पाँच-छ: साल बचे हैं। अब रिटायर होने में क्यों न चार दिन वह भी उनके पास मौज कर आएं? कोई पहाड तो टूट नही पडेगा! कैसा अच्छा लगेगा। दो ही का काम, कितना भी हंसो, जोर से बोलो, कुछ भी खाओ, घूमो, बायस्कोप देखो, तबियत मे सुबह जागो, मन हो काम करो, नही आराम लो—तरस गई इस सपने को पूरा करने के लिए। सोचते-सोचते कच्ची हिलोर पक्के इरादे का रूप लेने लगी…एक हठीली जिद अमरबेल की तरह दिल-दिमाग को कसने लगी।

फिर उमर भी कौन सी कस्तूरी गंध रह गई है कि सौ बातें बनेंगी? हाथ में केवल आज की साझ है "अंतिम रात है…जो कुछ करना-पूछना है, वह इन्ही क्षणों के बीच है…मन का पाँखी डैने खोल उड़ चला। इसी ऊहापोह मे साझ भी ढल गई।

रात को बडे जतन मे चौके में पीढ़ी पर भोजन लगाया। खूब चाव से पास बैठकर खाना खिलाया। मुरादाबादी कलई के डिजायनदार लोटे में पानी और फूल-पत्ती गुदे नए गिलास में मलाईदार दूध दिया। एक

में देवरानी बैठी बैठक मे बैठे महमानों के लिए शरबत बना रही थी।

दोनो ननदें भी वही देहरी पर बैठी भाई को थाली के ध्यान के साथ-साथ घर भीतर की बाते भी बतियां रही थी। मंझली देवरानी नल के नीचे बर्तन साफ करती जा रही थी और कनखियों से जिठानी का जेठ के लिए जरूरत से ज्यादा दुलार बरसता हुआ भी देख रही थी। छोटी सामने कोठरी मे जच्चा बनी हुई थी।

भोजन-पानी करके बाबू जी फिर बैठक मे पुरुषों के बीच जा बैठे। थोड़ी देर बाद बाहर के महमान जब उठ गए, तो भाईयों के साथ आँगन मे बिछी खाटों पर सबको बैठा कर खुद तख्त पर अधलेटे हो गए। पूरन-चाचा और बिसन मामा भी आ बैठे।

पांच भाईयों का भरा-पूरा कुनबा। तीन यही कस्बे मे लगे हुए थे। छोटा बाहर पढता था। सबसे बड़े बाबू जो हैं, हमेशा बाहर नौकरी पर रहे। उन्ही के बलबूते पर सारे भाई पढे। रोजगार बैठाए। ब्याह-शादी हुई। दो बहनें ब्याही। मां-बाप का कारज किया। पिछली साल मां बराबर बूआ की बरसी की। विधवा होकर यही रही, यही मरी, सो श्राद्ध-पुण्य और कहा होता? बहनों के आए दिन खर्च लगे रहते। त्यौहार-वार अलग और भात-छोछक अलग। इसलिए इन्ही कुओं-पोखरों को भरने के लिए खुद बाहर मारे-मारे, जी-पेट मुट्ठी मे कसे भागते-दौड़ते रहे और चंपा भौजी यहां हलकान होती रही।

रात गहरी होती जा रही थी और मर्दों की बातों का अन्त नही आ रहा था। चंपा भौजी के जी मे उठक-पटक मची हुई थी। ज्यादा दिन दूर रहने के कारण उनका रोम-रोम उनके ऊपर आँख-कान बना रहता था। होनहार ऐसी रही कि दो बार कोख हरी हुई, लेकिन जमीन छूने से पहले ही बच्चे ठण्डे हो गए। फिर तो रामजी की ऐसी आंख फिरी कि हजार देशी-अंग्रेजी इलाज कराए, सब धरे के धरे रह गए। उनका मन भले ही इस ख्याल से दुखी रहा, पर बाबू जी ने कोई गिला नही किया भाग्य से। न उन्हें चुभते हुए बोल कभी बोले।

भाइयों की औलाद अपनी मान कर चले। इतनी उमर पार करके भी वह आज बाबूजी के आगे वही नई-नवेली दुल्हन की तरह लजीली हैं।

न आंख भर देखने की हिम्मत और न मुह भर बोलने का दम। बाबूजी की आवाज, आहट सुनते ही कलेजा धड़क उठता है। सासें कण्ठ मे जम उठती है।

घर के पुराने कायदे-कानून। बड़े-छोटे रिश्तों की हजारों लक्ष्मण-रेखाएं। आंखों तक आज भी घूंघट। दिन मे क्या काम बैठने-बतलाने का ! हसी-ठट्टा ! राम भजो। इसी कारण तो बाबूजी उनके लिए सबसे बड़ा प्रलोभन बने रहे। उनकी देह के स्पर्शों से लेकर कपड़ों की मामूली सर-सराहट तक उनका दम खीच लेती थी। आज भी कसी कद-काठी वाले बाबूजी पान खाते हुए, मलमल का कढ़ा हुआ कुर्ता पहने आंगन की चांदनी मे तख्त पर मसनद के सहारे अधलेटे उन्हे बड़े अच्छे लग रहे थे।

घाटी में गूजती तहदार आवाज, धीरे-धीरे बोलकर खुलकर हसना भरे-भरे चेहरे पर करीने से कटी हुई मूछें, उठी हुई चुन्नटदार पलकों वाली आंखें और लम्बी-चौड़ी स्वस्थ्य काया उनकी आंखो को, मन को भमेरी बनाए रहते थे। सामने भी और लम्बे विछोह मे भी।

बातें चल रही थी। उनके मन में झुझलाहट उभरने लगी। भला कोई बात हुई यह ! अरे, आज की रात तो कम-से-कम यों मजलिस न लगाते ! उनका एक-एक पल उनका साथ पाने को प्रतीक्षित हो रहा था, लेकिन उन्हे कहां ध्यान ?

चंपा भौजी को यह भी बड़ा भारी दूसरा दुख था कि साहस बटोर कर जब भी उन्होंने मन की मीठी गांठे खोली, बाबूजी हंसकर टाल गए, या इन्हे बार-बार दुहराए जाने पर झुंझलाते कि—

"तुम्हारे ही मन है ! तुम्ही ज्यादा दुखी हो ? अपने को ही नेह का देवी-देवता मानती हो ! सबके बीच आते, उठते-बैठते हैं, तो सौ निगाहो, मिजाजों को भी देखना-परखना होता है कि नही ? फिर सौ फिकर, हजार समस्याएं···हमेशा आदमी का मन एक जैसा ही बना रहता है क्या ? तुम्हारी नजर के इशारे पर सब होता है, फिर भी अगर कोई बात, हमारा चलन या बेजा बात तुम्हे अखरेगी, तो हम से कसम ले लो, करेंगे ही नही···सौ बात की एक बात कि जिससे तुम्हारा जी दुखे, यह नहीं होगा ···दो घड़ी मिले हैं, तो उन घड़ियों को बेकार खराब मत करो।

आरी बनी क्यों भेदती हो ?"

लो, सुनो और···एकदम जमाने से निराली बात। आंखें भयभीत हिरनी-सी ठमक जातीं···हवा में सिहरती पोखरी-सी सांसें कांप उठतीं··· ओंठ नवजात कपोती के पंखो की तरह खुले-थमे रह जाते···कैसे कहतीं कि—उनके आठों पहर बाबूजी के इर्द-गिर्द छाया बने रहते हैं···हरेक सपना उन्ही के हाथों गिरवी है। उनकी उमर, उनका जीवन, संसार सब वही हैं। वह जानती हैं उनकी मजबूरी को, पर अपने मन की विवशता, ललक और हर घड़ी भीतर उगने वाले शब्दों के अर्थ कहां ढूंढ़ें ! किसे पूछें ? किसको दिखायें ?···

ऐसे ही निर्मल आवेग पूर्ण क्षणों में उनका सिर जब कभी बाबूजी की चौड़ी-भरी छाती पर टिक जाता या अपनी हथेलियों की अंजुरी में उनका मर्दानी गंध भरा चेहरा वे टिका कर नेह की पागल धुन गुनगुनाकर टकटकी सी बाध देखने लगती, तभी बाबूजी चौक पड़ते···

"अहो चंपू ! होश खो बैठती हो···कोई भी किधर से निकल कर आ सकता है···थोडी दुरुस्ती से बैठो, हा, हां, तुम बोले जाओ, हम सुन रहे हैं···तनिक नजर जरूर बाहर रखेंगे···चार दिन को आए हैं, क्यों कुछ कच्ची कनगोठियां बनाने का मौका दें दूसरों को ?···"

और वह बंजर जमीन-सी धू-धू हो रेत-माटी हो उठती···अपमानित चुभन···कौए-चोंच-मार से भी बुरी···बाबूजी जब बाहर की ओर नजर-निगरानी करेंगे, तो वो किससे बतियाएंगी !

यहा भी चंपा भौजी बेचैन···बर्दाश्त नही बाबूजी का यह रूप···ढह उठती बदली-सी···भिगो डालती उनके कंधे-घुटने···नदी-सागर बह उठते आंखों से···हाथ जुड उठते···माफी मांगती, हर बात भूल बिलबिला उठती। बाबूजी जरा सा हंस, दुलार उठने कि बस निहाल हो उठतीं··· बिछ जातीं फिर उनके संकेतों पर···लेकिन मन के महल का पूजाघर यो ही घंटियां बिना बजाए सूना-सूना प्रतीक्षित रह जाता,···जिसकी चंदन रची देहरी पर दौड़तीं, हांफतीं···थकी-टूटी सी आकर वह फिर बैठ जाती ···फिर से नये-पुराने, ताने-बाने उधेड़ती बुनती···उमर के पांव यों ही घायल होते रहे, पर चंपा भौजी की काया, उनका मन बाबूजी के नाम पर

परिक्रमा करता रहा। एक पूजा थी, जो अनवरत चल रही थी।

रात पर कालिमा की एक और गहरी पर्त चढ़ चुकी थी। उनके मन की झुंझलाहट ने अब क्रोध का रूप ले लिया था। आधी रात हो चली और यह हैं कि उठने का नाम नहीं। आएंगे भी तो क्या! मुट्ठी में कितना-सा वक्त रह जाएगा भला? सुबह मुंह अंधेरे ही फिर उठा देंगे। भाइयों और छोटी बहुओं के सामने कायदा-कानून जो रहना लाजमी है! ऊंह! पूरे ही देवता बनते हैं। खुद को पता क्या कि छोटे भाई लोग पीछे से अपने बीवी-बच्चों के साथ कितने हंसते-बोलते हैं?

दिन में भी देवरानियां पचास बार कमरे-दालानों में अपने-अपने आदमियों से मिलती हैं···बाहर भी जाती हैं···नुमायश, नौचंदी, गंगामेला कहां नहीं गईं! मंदिर में तो खैर जाने का नियम-सा है···एक वही बालूघाट की नदी रही। पीछे उंगलियों पर दिन-हफ्ते गिनती हुईं। सारे घर का काम-धंधा निबटाती हुईं अनाथ-सी। जिठानी-देवरानियों का घर—बराबर का काम। खुद का वरना क्या? न बालक-बच्चे, न मर्द घर में···नखरे—गुमान कहां करें! सख्त हिदायत कि इन्हें केवल भाई मत जानना, बराबर के बेटे जैसे हैं···छोटे पचास कह लें, तो भी पी जाओ। तभी ये सिर चढ़े रहते हैं! चलो माना, पर घरवालों को चाहिए कि अब तो उठें और पीछा छोड़ें।

बाबूजी के पांव हिले। भौजी का दिल बल्लियों उछल पड़ा। जंगले के किवाड़ छोड़ हटने को हुईं। वो तो एकदम आ जाएंगे—खड़ा देखेंगे तो क्या सोचेंगे?···परन्तु यह क्या! उन्होंने तो कोहनी के नीचे तकिया रखकर और अच्छी तरह टिका लिया था···

चंपा भौजी का कलेजा कोयला हो उठा। खड़े-खड़े पांव अलग टूट गए थे। हे राम! ऐसा मरदमानस किस काम का? अरे, खुद के भीतर से अगर सारा खून-निचुड़ गया है, तो दूसरों का तो ध्यान करें! काहे के बाबूजी! कोरे पत्थर के टीले। इन घरवालों को देखो। चोंच-नाक भिड़ाये बेकार की बातें कर रहे हैं···ऐसे तो अब डूबे सारे तारे! भाड़ में जाओ सब···उन्होंने खिड़की के पल्लों को भड़ाक से खोला और बंद किया। झपटकर आंगन में आईं और घड़ौंची के पास आकर घड़ों पर रखे गिलास-लोटों को जोर-जोर से अदलने-बदलने लगीं, लेकिन बाबूजी ने कमर फेर-

को नौकरी मे संग ले जाएं ? ऐसी असंभव बात इतनी पुख्ता ? किसी का दिमाग काम नही कर रहा था। धरा-उठाई शुरू हो गई। दोपहर को गाड़ी हर हालत में पकड़नी थी···

चंपा भौजी फिरकनी हुई भाग रही थी—देवरानियां, ननदें राह-गैल का खाना बनाने में जुट गईं, वह अब क्यों देखें चौका ? उनकी बला से कुछ भी साथ बांधो, चाहे रहने दो। जाने कितनी जगह सौ तरह के नास्ते-खाने ? अब किसकी रीरी-छीछी—! डिब्बा खोल जेवर निकाले। पायजेब-बिछुए खूब निखारे तार वाले बुरुश से। गुलूबंद, चंपाकली, दान-माला पहनी। चूड़ियों के आगे शेर के मुंह वाले कड़े दबाये गूंज और अंगूठियां पोरुओं पर चढाईं। गुच्छेदार तगडी पहनी। चमकनी बिंदी और नोंकदार काजल डालकर बालों मे खुशबू वाला तेल थपक मांग भरी···। गूंथा फिर माला-मोतियों से गूथ झब्बेवाला चुटीला। केला नाइन से महावर रचवाई। पड़ौस की बिट्टो से लेकर नाखून पालिश रंगी। सुनहरी फूलों-वाले किनारे की रेशमी लाल धोती पहनकर बड़े जतन से कपड़े में लिपटी धरी चप्पलें झाड़-फटकार कर पहनीं। ऊपर से मूगिया झलक लगी, गोटा-टंकी वायल की चद्दर ओढ़ घूघट खीच लिया। जी का उछाह समेटा नही जा रहा था।

समय हो गया था चलने का···देवरानियों ने पांव छुए। उन्होंने बाल-बच्चों के सिर पर हाथ फेरा। दूर रिश्ते की चचिया सास ने दस-बीस अच्छी सलाहें दीं। नाइन ने मंजी लुटिया में पानी भरकर दिया···दो घूंट पीकर उसमे खनखनाते दो रुपये डाले। नाइन ने आसीस देते हुए वह पानी उनके तांगे पर सिरा दिया।

मन हाथ से बाहर हुआ जा रहा था। सड़क-बस्ती पार होते ही चादर उतारकर चार तह करके घुटनों पर रख ली और बाबूजी पर काजल भरी चितवन से एक तिरछी मुस्कान फेंक दी। उन्होने भी उसका भरपूर जवाब आंखों-ही-आंखों में दे दिया।

अपनी साहसिक विजय पर वह निहाल हो उठी। हमेशा बहकाते रहे कि—

"क्या करोगी साथ जाकर ? ज्यादा ही जी उचाट हो रहा है तो

गांव चली जाओ महीना-बीस दिन के लिए।···काकू और ताई खुश हो लेंगे। हमारे लिए तो यही बड़े-बूढ़े हैं। अपनी चार-बीघा खेती है। ढोर-डंगर हैं। दूध-पानी ही बदलेगा। बुजुर्गों की सेवा का पुरस्कार अलग। गांव-गैल के आदमी भी तारीफ करेंगे। दूसरी बात यह है कि जाने कैसा मौका आए! रिटायर होकर कहां देही खटानी पड़े! अपना घर-गांव तो देखना ही है न?"

और चंपा भौजी विद्रूप भरी हंसी हंसकर टाल देती थीं—

"धत्तेरे की! वाह, वही मिला है घर का कूड़ा क्या! जाएं बहुएं काकी के पास। उन्होंने जगत की सेवा का ठेका लिया है न! जाएंगे रिटायर होकर गांव? बड़े देखे यही। सारी उमर घिसादी अकेले दीवारों में सिर फुड़वा कर, अब जाओ गोबर-माटी में लिथड़ने क्यों!" रेल की खिड़की से सिर निकालकर बाहर बड़े चाव से देखा। गांव, खेत, पेड़ दौड़े जा रहे थे।

नौकरी के आनन्द पाकर वह हरदम झूमती रहती। दो आदमियों का क्या काम? मन पसंद खाना, पहरना। आजाद मैना-सी फुदकती रहतीं छोटे-से क्वार्टर में। शाम को बाबूजी का हाथ पकड़कर दूर तक घूमने जाती। लगातार चार-पांच सिनेमा देखे, तो लगा कि जिंदगी का बहुत-सा अनदेखा पूरा कर लिया।

बाबूजी काम पर चले जाते, तब क्वार्टर के चबूतरे पर बैठकर बातें करती। क्रोशिया से बाबूजी को जाली के फूलों वाली बनियान बुनती। अपने भरे-पूरे कुनबे का, बाबूजी के त्यागों के किस्से बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करती। दिन यों ही फुर्र हो जाता। सई-सांझ से लेकर दिन दस-ग्यारह बजे तक खूब तबियत के साथ बाबूजी की संगत रहती।

दिन-दिन जोड़ लगाकर वर्ष समय के पंखों पर पलक झपकते तैर गए। अंतिम वर्ष रह गया बाकी। इसी बीच उन्होंने, चार-छै नये फैशन की साड़ियां और हल्के-फुल्के दो-तीन गहने बनवा लिए थे।

घर के ब्योरेवार क़िस्से चिट्ठियों में आते रहते थे, परन्तु यह भी उनकी नजर से छिपा नहीं था कि उन चिट्ठियों में जिस आदर, प्यार और इंतजार की गुनगुनी गर्मी बाबूजी तलाशते हैं, वह नहीं मिल पाती। यह भी कि बहू गांव में भी खत-पत्री इन दिनों ज्यादा डालने लगे हैं···खैर,

यह तो वह भी जानती हैं कि खेती-बाड़ी और गांव की हवा उन्हें हमेशा खींचती रही है। कहते रहे हैं कि चार पैसे की नौकरी शहरियों को क्या? दो दिन खाओ और अट्ठाईस दिन रबड़ की तरह खींचते रहो। उधर माटी में मुट्ठी भर दाने छितराओ और सारे कारज जी खोलकर पूरे करो।

रिटायर होने का दिन भी आ गया। सारा सामान समेट दोनों घर की ओर लौट चले। अपने छोड़े हुए कस्बे के स्टेशन पर उतर चंपा भौजी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

अजीब-सा नयापन'''या कहें तो अजनबीपन'''तांगा सड़कें-गलियां जब पार करने लगा, तो उन्हे महसूस हुआ कि यह किसी दूसरे नगर में आ गई हैं। सड़क, बाजार, रास्ते सब नई पहचान लिए लगे। यहा तक कि अपनी गली के नुक्कड़ तक यही भ्रम बना रहा। हालांकि सामने की दीवान जी की हवेली के आगे नीम और पीपल के पेड़ बदस्तूर खडे थे। वही हनुमान जी की छोटी गुमटी'''वही पीरखां का चबूतरा'''कोने में वह रहा लाला बनवारी लाल का किलेनुमा ऊंचा फाटक'''लेकिन फिर क्या था, जो बहुत उलट-पलट नजर आ रहा था'''!

दरवाजे पर तांगा रुका। इधर-उधर खिड़कियों-दरवाजों से छोटे-बड़े चेहरे झांकने लगे। परिचित-अपरिचित से'''

पन्द्रह दिनों मे ही घर मे बसी उदासी और परायेपन के कारण का पता लग गया। इस-उसके मुह से बात आई कि भाई लोग अलग चूल्हा करना चाहते थे। क्या? बेटे की तरह पाले-पोसे इनके भाई? छोटे देवर? यह कानखजूरी-सीख किसने दी?

बाबूजी इस घर के लिए, इनके लिए, बहू-बच्चों के लिए, सारी सुख-सुविधाओं के लिए आंख, कान, मुंह बंद करके कुर्बान होते रहे'''और अब? आखरी उमर मे आकर चूल्हा अलग करेंगे अपना? बेटा-बेटी की तरह मानकर जिस आदमी ने बुढापे तक कायदा, लाज-शर्म आंखों मे ओढ़ी, उसी को आज इन लोगों ने आंखों से तिनके की तरह छिटक कर फेंक दिया। पर किससे कहें यह बेहयाई? सुनेगा भी कौन? और जिस निर्लज्ज दो-टूकपने से बात चली थी, उसी दो-टूक तरीके से दस बड़ों के बीच घर का

बटवारा हो गया।

बाबूजी और भी ज्यादा खामोश हो गए। एक छत के नीचे बसा घोसला स्वार्थी नाखूनों ने नोंच-खसोटकर बारह-बाट कर डाला। चंपा भौजी क्या करती? घुटने-कमर ही टूट गए। उनके बाबूजी कटे पेड़ की तरह ढहकर पड़ गए। अब जी कहां चैन पाए?

घरवाले सारे मनघुन्ने हो उठे। बहुओं की घूघट-गाती उठने लगी। बच्चे जिनके पेट-जापे किये थे, थूक-लार पल्ले से पोछे थे, वही उनकी और बाबूजी की खिल्ली उड़ाने लगे थे। शिकायत करो, तो कोने-बीच में फुस-फुसाहट उठने लगी थी कि ये दोनो तो सठिया गए है। कुछ समझते तो हैं नही। बेकार कांय-कांय करना। रोटी खा ली और नौकरी पीट ली, सो लिए। दुनिया क्या है, कहां जा रही है, इन्हे इसका अंदाज क्या?···मां-बाप की खुस-पुस सुनकर बच्चे खिलखिल दांत फाड़ देते···मन तो करता कि खीचकर एक मारें हाथ और पूछें कि सठियापन क्या होता है? अपने मां-बाप को भी नाली-गटर मे दबोच देना···अच्छा! लेकिन बाबूजी की आंखो का संकेत पाकर खून का घूट पीकर रह जाती थी।

चंपा भौजी देख रही थी कि बाबूजी दिन पर दिन रिसते ही जा रहे थे। हल्का-सा बुखार और खांसी तोड़ती रहती। वैद्य जी की पुड़िया कोई असर नही कर रही थी। क्या करें? दूसरे डाक्टर को दिखाएं? उन्हें देख कर उनके हाथ-पैरों का सत अलग से निकल गया था।

भीतर बाबूजी खांस रहे थे। कराहने की आवाज आई। दौड़कर गई··· कमर-छाती सहलाने लगी···हाथी-सा बदन सिकुड़कर बांस बराबर रह गया था। बदलाव का गम क्या कम हौलनाक होता है? फिर एक तो बोल-चीखकर दर्द फोड़ लें, वहां कुछ बह तो जाता है, लेकिन जहां बूद-बूद पीड़ा पी ली जाए, वहां का जहरी तालाब देही को ही चाटेगा! परन्तु चंपा भौजी का बस भी क्या?

चंपा भौजी की पलकें तालाब बन गईं। झरझर कर बाबूजी की छाती पर बिखर गईं। उन्होंने कांपते हाथ उनके सिर पर रख दिए—

"अरे बावली! तू क्यों आधी हुई जा रही है! अभी मैं जिन्दा हूं··· अचानक हादसा गुजरा है, सो हिल गया हूं—टूटा तो नहीं हूं ना?" वह

छाती पर सिर टिकाए सुबकती रही। बुखार शायद तेज था। तवे की तरह खाल तप रही थी।

"अब चुप्प कर चंपी ! संभाल ! उठने-बैठने लायक होने दे, तब अपने गाँव चलेंगे। काकू मर गए। काको अकेली जिस-तिस से आध-बटाई पर हल-साझा करवा रही है। बूढ़ी काया भी सुख पा लेगी···चार दिन··· सारी जिंदगी बाहर दूसरों के सिर की छाया के लिए बिता दी···चल अब माटी का कर्ज भी उतार दूं···क्यों ? मुझे क्या पता था कि आंगन यों दगा दे जाएगा।"

चंपा भौजी की आंखों में जुगनू चमक उठें—

"आपसे आज कहूं, पहले डर था। ऐसा पता होता तो बाहर दो ईंटों का झोंपडा छा लेते।

खैर चिट्ठी डलवाये दे रही हूं गोमू से कि अठवाड़े बीच हम आ रहे हैं। दवाई लेके सो जाओ दो घडी—"

सचमुच कई दिन बाद बाबूजी को बड़ी गहरी नींद आई। सिर के ऊपर जो शहतीर झुका चला आ रहा था, लगा कि नहीं, अभी सिर पर छत की छाया बनी हुई है···पांव तले की जमीन अभी ज्यादा बिखरी नहीं है···कोई नया अबूझा-सा सपना उनकी पुतलियों को थपकने लगा था···

आंगन का इन्द्रधनुष

धूप का तिकोना टुकड़ा पीले रूमाल की तरह बार्जे पर लटक आया था। कितना चाहा था कि आज कुछ जल्दी ही सुबह के काम से फुर्सत हो जाए, जिससे दोपहर की रसोई चढाने से पहले कुछ आराम मिल जाए।

तीन-चार दिन से सारा शरीर जैसे गर्म सलाखो मे कसा रहता है। सिर में वेहद दर्द। हथेलियां तवे की तरह जलती रहती है। खाने-पीने को मन ही नही करता। हाथ-पाव टूटे से रहते है जैसे किसी ने पूरी जान ही खीच ली हो।···लेकिन कैसा आराम!

आज भी वही रोज वाला समय हो गया। नये सिरे से फिर रसोई मे दाखिल होने में केवल आधा घण्टा बाकी है···बस, एक बार दाखिल होकर वही ढाई-तीन बजे छुट्टी मिलती है···अलग-अलग फरमाइशे··· किसी को मीठा दलिया चाहिए, तो किसी को नमकीन चावल···किसी को मूग की दाल, तो कोई दम आलू माग रहा है। दाल तो खैर बनेगी ही ···उधर रोटियो के भी आकड़े अलग-अलग···किसी को चोकर समेत बनाओ···कोई मिस्सी रोटी लेगा, कोई पतली फुलकी खाता है, तो कोई पलोथन वाली रोटी···इस बीच और भी कई तरह की फरमायशे···अरे! जरा तीन कप चाय तो उबालो···लो, थोड़े चिप्स भी तलना···ठहरो, चार मठरी भी उतार लो···हे भगवान! जी घबरा कर रह जाता है··· एक-दो दिन का नही, हर रोज का यही राग रोना है···जिसमें श्रुति पिसी जा रही है। तबियत खराब न होगी तो और क्या होगा? ऐसे घर मे तो तपेदिक भी हो सकती है और दिल की बीमारी भी और कैसर भी···घर है कहां! भटियारों की सराय है···और नही तो क्या?

अपने कमरे में आकर उसने एक गहरी सास ली। मुंह का स्वाद खराब हो रहा था, इसलिए मीठी सुपारी का एक टुकड़ा डालकर रैक से

एक पुस्तक निकाली। उसे लेकर आराम से सोफे पर लेट गई।

मन हुआ कि सीलिंग फैन खोल दे, लेकिन उसने नही खोला'''कौन वेकार मे वही वाक्य फिर सुने, जिन्हे इस घर की मालकिन श्याम प्यारी ने वडे नाटकीय ढंग से कई वार कहकर बरज दिया है—

"अरे दुल्हन ! कोई वंद-घुटन कमरे में हो, तब तो पंखा घूमता भी समझ मे आवे है''', लेकिन जब जंगला, दरवाजा हवा फेंक रहा हैगा, तो सिर पर चककरी घूमती कैसे सुहाये है ! और ये रेडियो ! हाय राम ! कहू हू के जब नीचे एक और वडे हाल में चीख रहा हैगा, तो यहां टें-टें की कौन जरुरत पड गई। इसका शौक मारे ही डाले है, तो नीचे ही सब के वीच दो घडी फुर्सत ले लो सुनने के वहाने'''पर तुम तो ठहरी न तीन लोक से न्यारी' चलो वंद करो'''विजली मरी अलग फुके है ढेरों'''"

तभी तो वह रेडियो और टू-इन-वन को अब हाथ ही नही लगाती। हाथ में ली हुई किताव को उसने धीरे से खोला। पहले ही पृष्ठ पर सुन्दर अक्षरों से उसका नाम लिखा हुआ था। तारीख के नीचे वही परिचित एक कलात्मक रेखा'''तारीख और नाम के ऊपर अचानक एक हंसता-मुस्कराता चेहरा उभर आया।

पूरी पुस्तक यूनीवर्सिटी वन उठी। उसकी पलकों में लायब्रेरी, साइड-गैलरी, कैम्पस, आर्ट्स फैक्ट्री, कैंटीन, ग्रीन लॉज'''जाने कितने कोने तस्वीरों की तरह तैरने लगे। मीता और रुवी, जो उसकी गहरी सहेलिया थी'''और वो किरन, जिसने एक दिन तुषार से परिचय कराया था''' तुषार'''! एक चित्रकार, कवि और शायर'''चेहरे पर अजीव सा दर्द— प्रकृति से सरल।

यूनिवर्सिटी के कोलाहल से दूर एक सुदूर टापू-सा अपने ही चिंतन में खोया रहने वाला'''सवसे अलग पहचान लिए हुए'''देवदार जैसा कद्दा-वर कद'''निर्भीक-बेवाक दृष्टि'''गेंहुआ व्यक्तित्व'''खूबसूरत, चमकीले बेतरतीव, अस्त-व्यस्त वाल'''पढ़ाई के घण्टों के अलावा वह किसी पेड़ के नीचे या किसी एकान्त बेंच पर बैठा रहता। डायरी में कुछ लिखता हुआ या कभी कोई पुस्तक पढ़ता हुआ।

लायब्रेरी में अक्सर उससे मुलाकात होती रहती। पुस्तकों की चर्चाएं

···चित्रों में सहेजे नवीन विन्दुओं भर बातें होती···अपनी अभिरुचियों और विचारों के नजदीक होने के कारण वह कब जीवन के अन्तरंग क्षणों में समाता चला गया, अब याद नहीं आता।

वह पक्का विश्वास पाल बैठी थी कि पापा ने हमेशा उसके खयालों को, भावनाओं को स्वीकारा है···हो सकता है कि भावी जीवन के चुनाव और साथी की पसंद के मामले में भी वह उसे पूरी स्वतन्त्रता देंगे···तभी तो मन ही मन उसने निर्णय का पक्का धागा पिरो लिया था कि वह और तुषार अपने जीवन में साथ-साथ कला और साहित्य की साधना करेंगे।

समय बीतने पर एक दिन यही बात उसने जब तुषार के सामने भी व्यक्त की तो एक हल्की-सी धुंधलाई पर्त उसके चेहरे पर छा गई थी। कितनी देर तक वह चुपचाप गुंल दाऊ के पेड़ की ओर देखता रहा था और फिर उसी उदासी में घिरा हुआ बोला था—

"श्रुति ! जीवन का छोर छूना इतना आसान नहीं है जितना तुम समझ रही हो···दिन और वर्षो की नाव खेने के लिए पतवार मजबूत पकड़ने होते हैं। तुम्हारे पापा को, उनके सामाजिक स्तर को मैं अच्छी तरह पहचानता हूं। यह भी जानता हू कि वह मुझे भरपूर स्नेह भी देते है, लेकिन केवल तुम्हारे एक बुद्धिजीवी क्लास फैलो के रूप में···इससे ज्यादा और अहमियत उनकी नजर मे नहीं है—"

"यह तो बहुत कुछ है···इतना अहसास मेरी नजर मे तो काफी है··· जाहिर है कि तुम उनकी कसौटी पर खोटे नहीं हो, क्यों?"

"अपने दामाद के रूप में तो खरा नहीं न ! तुम्हारा रिश्ता मेरे साथ बाधकर उन्हे लगेगा कि इन्होंने अपने साथ एक क्रूर व्यंग्य और एक तिरस्कार का रूप बाधा है। तुम्हें बात अजीब भी लग रही होगी, पर है नंगा कटु सत्य···वह कभी भी कंचन का सौदा कौड़ियों में नहीं करेंगे··· इसलिए ये पागलपन के इन्द्रधनुप रचने की कोशिश मत करो···मैं जो भी हू, जैसा भी हूं, तुम जानती हो कि हजार गुण लेकर भी निर्धन हूं। अपने पैरों पर खड़े होने का संघर्ष झेल रहा हूं। कही से बहुत कमजोर भी हूं। मुझे दिवा-स्वप्न मत दिखाओ। पैसे वालों के लिए निर्धनता सबसे बड़ा अवगुण होता है—"

"नही, तुम मेरे पापा को फिर तो बिलकुल ही नही पहचान पाये हो। धन और ऐश्वर्य से अधिक उन्होने मुझे, मेरी मान्यताओं और भावनाओं को अधिक चाहा है। सुधीर भैया भी एकदम खुले विचारों के हैं। मुझे तो विश्वास है कि भैया और पापा अपने किसी भी स्वार्थ के लिए मेरी खुशियों का शोषण नही करेंगे। तुम्हारा अध्ययन और चिंतन क्या मेरी नौका की सबल पतवार नही बनेंगे ? बरसाती रंग और चांदनी की चमक में बहने वाली कोरी कल्पनाशील मैं भी नही हू'''तुम मिलो तो सही पापा से। जहा तक मैं समझती हू, पापा हमारे बीच बाधा नही बनेंगे'''"

कह तो उसने दिया था, लेकिन मन मे वह कुछ असहज-सी जरूर हो उठी थी। इस पहलू पर इतनी गंभीरता से तो उसने कभी सोचा ही नही था।

"खैर !—छोड़ो यह सब। तुम्हारा विश्वास अपने पिता के प्रति इतना अधिक है तो बड़ा अच्छा है, लेकिन तुम क्यो यह सब सहेज रही हो ! तुम से तो मैंने कभी कुछ छुपाया नही है'''मैंने बचपन से ही अभाव, दर्द, अकेलापन और अपने चारो ओर अनिश्चय के अंधकार की सघनता को झेला है'''अपनों के कितने बीभत्स रूप देखे है। इस पढ़ाई को पूरा करने के लिए कितना श्रम किया है ! कड़वे अनुभवों के कांटे बीने हैं'''चलो मान लो कि परिस्थितियों ने मुझे खिलौना बनाया, नियति के हर आघात से संज्ञा शून्य हुआ, लेकिन तुम'''! अपने को यो ही बलिदान कर देना तो कोई बहादुरी नही है। भावुकता बड़ी रेशमी होती है श्रुति'''परन्तु यथार्थ की पीड़ा बड़ी खुरदरी होती है। मैं कब स्वीकारूंगा कि किसी टूटी कगार से तुम अपनी किश्ती बाधो'''श्रुति मेरी बात पर तुम्हें गौर करना ही होगा'''"

'''और सचमुच जब उसकी जिद् पर तुपार उसके पिता से मिला था, तब उन्होने और प्रगतिवाद का ढोल पीटने वाले भैया ने अपने बाहरी मुखौटो को उतार कर अपना असली अफसराना ठाट दिखा दिया था। रौबदार आवाजें कमरे में गूज उठी थी। तुपार उस समय उनकी दृष्टि में एक मेधावी और सुदर्शन युवक न होकर उनके ही दफ्तर का जैसे कोई अदना कर्मचारी हो उठा था। पहले ही भैया कई चुटीले वाक्य दे चुके थे,

जो थोड़ी बहुत कसर बची थी, वह पापा के द्वारा अन्त मे पूरी हो गई थी···

"मिस्टर ! तुम तो मनोविज्ञान जानते हो शायद ! तुमने ऐसा प्रस्ताव रखने का साहस कैसे कर लिया ! दे सकोगे श्रुति को सम्पूर्ण शानदार जिन्दगी ! कोरी शायरी और कला की अंधी नदी मे बहना अलग बात है और सुरक्षित दीवारें देना दूसरी बात है। कच्ची खुशियां बड़ीद रिद्र होती है···ये अभावों की खाई को नही पाट सकती। याद रखना कि आगे आप कभी ऐसी बात लेकर यहा नही आयेंगे···समझे···"

···और सचमुच ही तुषार ऐसा समझा कि उस शहर को ही छोड़ कर चला गया था। कितने दिनों तक वह खुद को संभाल नही पाई थी। मन को भुलाने के लिए उसने चित्रकला मे अपने को डुबोया···डबल एम० ए० किया। पी-एच-डी० की और पांच वर्ष सर्विस भी की, लेकिन क्या सचमुच खुद को डुबा पाई···?

एक लम्बा अंतराल काटने के बाद आखिर पापा की इच्छा के आगे उसे झुकना पड़ा था। भाग्य के प्रबल संकेत पर पूरा पिछला पन्ना उसने बेरहमी से जिन्दगी की जिल्द से फाड़कर अलग कर दिया था। एकदम नया जीवन जीने के लिए और हर परिस्थिति को सहने के लिए वह तैयार हो गई थी पूरे मन से।

घड़ी की सुईयों पर नजर पडते ही वह हड़बड़ा कर उठी। ओह ! आज कहां, कैसे, किन मार्गो पर भटक गई थी वह। हाथ की वह किताब फिर से रैक मे रख दी। उसके जन्म-दिन पर यह तुषार ने उसे दी थी। उसका यह पहला कांव्य-सकलन ताजा-ताजा निकला था। सभी मेहमानों के जाने के बाद उसने सुनहरी रैपर से कवर की यह किताब देते हुए कहा था—

"लो श्रुति एक छोटी-सी भेंट है यह। मेरी कविताओं का संग्रह। इनके माध्यम से मैंने कहना चाहा है कि रोशनी के द्वार ही सुहाने होते है। अंधेरो का सफर तय करने में मदद करते हैं। क्षण-क्षण मोम की तरह अभावों के साथ गलना जीवन के साथ विश्वासघात करना है। क्यों न बुलन्दियों को छूने के लिए विश्वास की धूप पा लें ! श्मशानी वैराग ओढ़ने से जीवन के न

तो सौरभवंत फूल ही खिलत हैं और न सांसों की वांसुरी पर सुख के गीत तैरते हैं। ठीक कह रहा हूं न! पढना···तुम्हें अच्छी लगेगी···"

वह बहुत देर तक सोचती रही थी कि ऐसा कहकर वह केवल अपनी रचनाओं की ही व्याख्या कर रहा था या उसको सबोधित करके कहा जा रहा था!

विगत के चक्रवातों से निकल कर उसने जल्दी से अपने मन को व्यवस्थित किया। अब तो वह अपनी मौजूदा जिन्दगी से पूरा समझौता कर चुकी है। विजय के प्रति वह पूर्ण ईमानदारी से समर्पित हो चुकी है। यह सब कुछ सोचना अब ठीक भी नही लगता, फिर फुर्सत भी कहां रहती है उसे उधड़े-उलझे इन धागों को बुनने की···! अब तो एक ऐसे जीवन के नये मोड से पहचान हुई है कि वह हतप्रभ होकर रह गई है। ससुराल का एक अजीब परिचय···एक विचित्र अनुभव।

आंगन मे आते ही उसे याद आया कि जिठानी जी के बच्चों के कपड़ो पर प्रेस करनी है। एक लम्बी सांस लेकर पहले उसने स्टोव पर चावल चढाये और फिर कपडे समेटकर प्रेस करने बैठ गई···

वडे कमरे मे हमेशा की तरह बैठक जमी हुई थी। जोर-जोर से रेडियो बज रहा था। बज क्या रहा था, चीख रहा था। उसके यहां ड्राइंग-रूम में सगीत कितना धीरे-धीरे से बहता रहता था! पापा को तो किसी का तेज बोलना या किसी चीज को जोर से रखना तक पसन्द नही था। हर काम का एक तरीका देखा था। यही सीखा भी। लेकिन यहां की तो हर बात ही निराली है!

पूरा माहौल एक मायापुरी है। सुबह पांच वजे से जो हाय-हाय शुरू होती है, वह रात ग्यारह-बारह वजे तक मची रहती है। सारे दिन यों ही सिर चकराता रहता है। अब तो पापा भी पछताते होंगे इतने बड़े कुनबे मे देकर! पहले हमेशा कहा करते थे कि अपनी श्रुति तो राजरानी बनकर जाएगी। बीस नौकर आगे और बीस पीछे दौड़ा करेंगे। भैया की नजरें तो अफसरी तबके से नीचे सोचने-देखने की आदी ही नही थी, तभी तो दोनों के चढे दिमाग की लपेट से तुषार का नाम एक झटके मे पोंछ दिया गया था।

पापा और भैया शायद भूल गए थे कि एक और बड़ा-ओहदा है, जिसे भाग्य कहते हैं और जिसे एक बहुत बडा अफसर चलाता है उसका नाम ईश्वर है। भूल ही तो गए थे···वरना रंगे हाथो रिश्वत लेते हुए भैया क्यों पकड़े जाते ! क्यों तीन साल तक ससपैण्ड हुए पडे रहते ! क्यों अच्छे-भले सदाबहार पापा दौरे से लौटते समय लकवे का शिकार होते। क्यों भला हवा से बातें करता मिजाज और आसमान छूते साहवी सस्कार पलक झपकते धरती सूंघ उठे !

पापा और भैया के हाथों अपमान की पीडा से कराह कर उस दिन तुपार ने बाउण्ड्री के पास थोड़ा रुक कर कहा था ··

"श्रुति ! जो गरीब, विवश और दुखी होते है, वह ईश्वर में, आत्मा में, कर्म में और दूसरों के दर्द को बांटने में विश्वास रखते हैं। जो सुखी-सम्पन्न होते हैं, वह केवल स्वार्थ और शोपण के ही कायल होते है, लेकिन यह भी एकदम सत्य है कि अक्सर ऐसे ही लोगों को कभी-कभी नियति के सामने वाणविद्ध हिरण की तरह छटपटाते देखा गया है···"

और सचमुच पापा को, भैया को मुसीबत और चिंता का-पल-भर में वोध हो उठा था। भाई की बेकारी और पिता की बीमारी ने पैसे को पेंदी में बैठा दिया था। उसकी नौकरी ने थोड़ा सहारा दिया था तव···पांव के नीचे कच्ची जमीन का अहसास शायद पहली बार उन दोनो को अच्छी तरह से हो गया था···

पूरी कोठी किरायेदारों में चौपड़ की तरह बंट गई थी। स्कूटर, और कार, दवाइयों के लम्बे-लम्बे बिलों में, कोर्ट-कचहरी और वकीलों की फीस में, कुछ इधर-उधर खिलाने-पिलाने में स्वाहा हो गए थे। पुराने कुल—संस्कार और बेटी की बढ़ती उम्र को पिता नजरअन्दाज नही कर सके। इसीलिए अपनी बची सामर्थ्य के अनुसार जो भी अच्छा घर-वर मिला, वहां रिश्ता तय कर दिया था।

तुपार की याद फिर दिलाई गई थी, लेकिन बात के धनी मालिक पुरानी परम्परा की सड़ी गली से बाहर नही आ सके। श्रुति को यह भरा-पूरा परिवार उन्होंने सौंप दिया। कहने लगे थे कि बड़ा परिवार ही सुखी होता है। न अकेले की चिन्ता, न अकेले का दुख, हर मुसीबत में सब साथ

रहें, परन्तु भैया ने बहुत विरोध किया था कि···

"कैसा बड़ा कुनबा ! न खा सकेगी ढंग से न आराम पा सकेगी। सारे दिन सराय—ढाबा खुला रहेगा। पिसकर रह जाएगी। जितने ज्यादा सदस्य, उतना ही झगड़ा···अलग-अलग विचार। आए दिन जन्म, आए दिन मौत···ये भी कोई जिन्दगी हुई ! श्रुति वहां कैसे निवाह कर पाएगी ! यहां का रहन-सहन, इसकी पढ़ाई-लिखाई और विचार सब अलग रहे हैं। यह तो वहां टूटकर रह जाएगी।"

परन्तु अपाहिज पिता ने बेकार बैठे भाई की सहानुभूति को अनसुना करके यहां सगाई पक्की कर दी। शादी के दिन तक भैया बड़बड़ाते रहे···

"देख लेना घबरा जाएगी···यह परिवार बड़ा दकियानूसी है। कोई नौकर तक नहीं है। रूढ़िवादी महिलाएं है। लड़का शहर में ही नौकरी करता है, इसलिए बाहर जाने का प्रश्न ही नहीं है, इसके लिए शहर में अलग मकान लेकर रहने से तो रहा। पछतायेंगे तब आप। विश्वविद्यालय तक पढ़ी-लिखी लड़की को इतना दमघोटू वातावरण दे रहे हो ··देख लेना बर्दाश्त नहीं होगा···"

परन्तु उसने बर्दाश्त कर लिया। हर सदस्य का स्वभाव और घर का हर काम उसने बड़ी सरलता से ओढ़ लिया। विगत का प्रत्येक चित्र परिस्थिति की रबड़ से मिटा डाला है। पापा के आदर्शों पर खुद को पूरी तरह हवन कर डाला है। विचारों के ऐसे ही ज्वार-भाटों से घिरी वह प्रेस किए कपड़े रखकर दाल बीनने लगी।

बड़े कमरे में रेडियों से भी ऊंची आवाजों में बातचीत चल रही थीं। बीच-बीच में हंसी के ठहाके गूज जाते। बातें कौन-सी जोरदार थी। वही रोजमर्रा की घिसी-पिटी।

सामने वाले घर की दीक्षित आण्टी पूरे मुहल्ले की बखिया उधेड़ रही थी। उनकी हां में हां मिलाने में सरला बहनजी जी-जान से जुटी हुई थी। मुंशियाइनजी को घर भर की बीमारियों और दवाइयों पर हुए खर्चों का बयान करने से ही फुर्सत नहीं मिलती थी। श्रोतागणों की भला क्या कमी थी वहां पर ?

दोपहर के समय यह बड़ा कमरा सभी आसपास की महिलाओं का

फुर्सत वाला निठल्ला क्लब था। बीच में बैठतीं सरपंच बनकर उसकी सास जी। विधवा बुआजी सरोते से सुपारियो के जितने बारीक और नुकीले छल्ले-डोढ़े बनाती थी, उतनी ही तीखी आलोचनाओ का चूरन बीच-बीच में बातों के साथ मिलाती जाती थी···पलंग, कुर्सियो, सोफे और किवाड़ों पर बच्चे चढ़ रहे थे, कूद रहे थे। बेमतलब चीख रहे थे। अखबार के पन्ने अलग आंगन-बरामदे मे उड़ते फिर रहे थे।

उसकी ननद नीतू भी तीन बजे अपने कमरे से आकर उसी गोष्ठी में जम जाती थी। अच्छी-बुरी, कच्ची-पक्की बातें सुनने मे न उसे हिचक थी, न औरों को ही इसकी परवाह थी। मांजी की सिर चढ़ी बिटिया जो थी। दसवीं कक्षा मे ही दो वर्ष से लगातार फेल हो रही थी।

उसका लिखने-पढने मे ध्यान ही कहां था! ताश पीटना, कैरम खट-खटाना, रेडियो सुनना, बेकार की किताबें पढ़ना, खाना और सोना। घर मे किसी को चिंता नही। करे भी कौन! जेठजी जाते है दफ्तर। उन्हें अपने बच्चों को ही देखने का अवसर नही। ससुरजी और देवरजी जाते है सुबह ही दवाइयो की दुकान पर। उसका पति विजय एक बड़ी फर्म मे काम करता है। बस इस घर मे विजय ही ऐसा है, जो पूरे घर में अपना अलग व्यक्तित्व रखता है। सबके जाने के बाद पूरे दिन इन्ही महिलाओं का राज रहता है। विजय कभी-कभी टोक देता है नीतू को, तो मांजी तुरन्त सामने आ जाती हैं···

"अरे! तू क्यों रात-दिन इसी के पीछे पड़ा रहता है! वो मरी किताबें चाट लेती हैं पूरा मगज, तो घड़ी भर को हंस-बोल लेती है। उमर ही क्या है, बालक ही तो है। रेडियो के दो गाने सुन लिए तो क्या धरती फट गई! तू अपना काम कर। घर में क्यों माथा पच्ची कर रहा है···"

विजय क्रोध से पैर पीटता चला जाता। वह इस घर को चिड़ियाघर और धर्मशाला समझता है। अधिक क्रोध में कह भी देता है चिल्ला-कर—

"धर्मशाला के भी कुछ नियम होते हैं, यहां वह भी नहीं। कभी जाओ, कभी आओ। न किसी का लिहाज, न कोई भय। आदमी पागल हो जाए यहां···"

जिठानीजी दो दर्जे पढ़ी हैं। उमे सुनाकर ताना मारती हैं···"अरे भई, हम ठीक रहे·· कौन फोडता आंखें! मिलता भी क्या? छोटी गठरी भर डिगरियां लाई तो हैं बांधकर! कौन-सा मुकुट लगाए बैठी रहती हैं! हमारी तरह काम ही तो करती हैं।"

जाने क्यों आज तो नए-पुराने विचार दिमाग को खाली छोड़ ही नहीं रहे। शाम को कही जाना भी था। छोटे-छोटे कामों मे पांच बज गए। हे भगवान! उसे तो अब तक तैयार हो जाना था। विजय जाते, हुए कितने उल्लास मे कह गया था···

"श्रुति! ठीक सवा पांच पर तैयार मिलना। देखो, खुले बालो वाला स्टाइल रखना। इस बार दिल्ली चलकर तुम्हारे बाल बॉब कराने हैं। ये जूड़े-चोटी की कैद मुझे पसंद नही भाई! सुनो, साड़ी से मैच करता वो इमीटेशन सेट ठीक रहेगा, कभी भारी भरकम जेवर पहन लो। अच्छा··· ओ के ·"

वह जल्दी से मुह पर छीटे मारकर ऊपर आई। उल्टे-सीधे बाल कस साडी लपेट ही रही थी कि विजय आ गया। देखते ही झुझला उठा···

"हद है! कभी ठीक समय पर तैयार नही हो पाती हो। कितनी बार कहा कि डरती क्यो हो! जैसा मैं चाहता हूं, वैसे इस घर मे रहो। क्या! ओह! प्रेस फिर नही हो सकती थी क्या! औरो ने हाथ गिरवी रख दिए हैं क्या! सारे काम खुद क्यों करती हो! लो, अब जल्दी करो।"

घर लौटकर आए तो आंगन मे ही मांजी मिल गईं। विजय बाहर ही बडे भाई से बातें करने लगा था। यथा संभव गला दबाकर लेकिन आवाज मे पूरा जहर घोलकर बोली···

"हाय दुल्हन! आते ही अच्छे लच्छन दिखाए! दिन चढे गई और अब आधी रात ढले लौटी हो! ऐसा खिलन्दरा रूप हमने तो देखा नही। ये तो समझो मत कि घर के सभी अंधे हैं। अभी से मुकद्दम बन बैठी क्या? विजय का क्या! अरे मर्द बच्चा है। तुम क्यो उसे नचाती फिर रही हो!"

क्या कहती! जल्दी से ऊपर भाग आई। विजय का भी मन बड़ा खिन्न हुआ। जाने क्यों, जब भी मन की धरती कच्ची पड़ने लगती तभी

तुषार समाने आ खड़ा होता···

"श्रुति। जीवन संग्राम नहीं, समझौता पूर्ण स्वीकारोक्ति है। विराम लगाकर पलायनवादी होना तो है नहीं। सुबह और शाम के बीच का सूर्य ही तो है जीवन···"

कोई रेशमी सपना थकी पलकों को सहला गया। नींद आ गई। रात कट गई।

शुक्लाजी विजय के मित्र हैं। उनके बच्चे का जन्म दिन था। उनकी पत्नी ने बड़े आग्रह से बुलाया था। जब वह विजय के साथ आंगन से गुजरी तो विजय ने भी गौर किया कि भाभी और नीतू के होंठों पर व्यंग्य खिंच आया था। उसने लापरवाही से गर्दन झटक कर स्कूटर स्टार्ट कर दिया। शुक्लाजी के यहां चहल-पहल मे वह सारी थकान और उदासी भूल गई। सबसे अधिक खुशी तो यह हुई कि उसके साथ पढने वाली सहेली किरन वहां मिल गई।

दोनों ही एक-दूसरे को पाकर सब कुछ भूल गईं। वह अपनी सास और पति के साथ आई थी। उसकी सास के चेहरे पर बड़ी सौम्यता थी। बार-बार किरन पर स्नेहिल दृष्टि डाल रही थी। काश ! उसे भी ऐसा दुलार मिल पाता। गाने-बजाने और खाने-पीने में काफी रात गुजर गई थी। पूरे समय वह और किरन पुरानी यादों मे खोई रही।

वह लौटी तो माजी जाग रही थी। वैसे हर रोज जल्दी सोती हैं। लेकिन दो-चार सुनाये बिना कैसे सो पाती। वह थके कदमों से अपने कमरे में गई। उल्लास बिखर गया था। विजय को क्या बताये ! एक दिन का झगड़ा तो है नही यह। कैसे कहे वह विजय से कि चक्की के इन दो पाटों के बीच वह जल्दी ही पिसकर रह जायेगी। पति की भावनाओं का आदर करे ! क्या करे वह ! विजय की खुशियों का भी गला नही घोंट सकती। फिर !

उसका उदास चेहरा विजय की नजरों से छुपा कहां रहा ! समझ गया कि अम्मा ने जरूर जली-कटी सुनाई है। अजीब हैं ये भी। बुआ और नीतू अलग कान भरती रहती है। भाभी की अलग ऐंठ रहती है। नीतू को अम्मा फटकारती भी तो नहीं। लड़की है, पराये घर जायेगी तो

यों ही इधर-उधर की लगाकर हजारों दरारें पैदा करेगी। इस श्रुति का भी दोष है। जानवरों की तरह काम करेगी, फिर भी हजार सुनेगी। क्यों भला! *नहीं जी, अब काम चलेगा नहीं, बुआ जी और अम्मा से बात ही* करनी पड़ेगी।

उधर श्रुति की आखों में नींद नहीं। कैसे घिसटेंगे ये दिन! न कोई आराम, न खुशी। अच्छे धुले कपडे पहन लो तो ताना सुनना पड़ता है कि कौन तीज-त्यौहार है जो कीमती धोतियां कुचली जा रही हैं। भूले-भटके कभी ड्रेसिंग-टेबिल के आगे बालों में कंघी फिरा लो, तो जाने कहां से तारे की तरह आकर टूट पड़ती हैं···

"हाय राम! मैं भी तो कहूं कि कहां गई बहू—लो, और देखो, ये यहां बैठी कुल्ले फूल-पत्ती निकाल रही हैं, अरे राम—इत्ती देर क्या! बाल तो सिर के दलिद्दर हैं। दो हाथ मारे और लपेटे। ये क्या कि इन्हें ही बैठे चिकनाते रहो। उठो तो, बडी जिज्जी के देवर आये हैं, दो गरम फुलके तो निकाल दो···"

ऐसे ही सुबह से शाम होती रहती है। सारी इच्छाएं मर गई हैं। कितने शौक से, पसन्द से दहेज दिया गया, सब बेकार है। सिर में हर वक्त तनाव रहता। नीतू कैसा मुंह चढ़ाकर गुर्राती रहती है—"बड़ी घमण्डी हैं न भाभी···हमेशा अलग-अलग···अपने को ज्यादा होशियार समझती हैं न। पूरी मनघुन्नी हैं···विजय भैया ने सिर पर बैठा रखी हैं···पढ़े-लिखे होने का ठसका है तो हम क्या करें!"

इलाहाबाद से विजय का दोस्त आया था कल। चाय देने गई, तो विजय ने उसे भी बैठा लिया। आंगन में तभी बुआ जी चोखी मां जी को सुनाकर···

"देखो भौजी! हम जरा पड़ौस में जगमोहन के गाने क्या चली गई, पूरा घर बर्बाद हो गया। बड़ी बहू बेचारी सिर दर्द में है सो मिसरजी की बिल्ली पूरा दूध गिरा गई···अरे सर्वनाश···बकरी खुली रह गई तो ये लो, टोकरी भर अरहर खा गई। अब देखे कौन! चाय और हंसी की महफल से कहां होस···"

नीचे हल्ला-गुल्ला सुनकर विजय ने दोस्त को जल्दी विदा कर दिया।

उसके जाते ही मां-बेटे में सीधी तकरार छिड़ गई—

"तो सुन ले रे विजय···इस घर में ये नवाबी नहीं चलेगी। दिन दहाडे तबले-सा मुंह खोल ही-ही करना और लपर-लपर चाय सटकना यहां नहीं होगा। घर उजडकर सत्यानाश हो गया और ऊपर छत्तरसारी पर छप्पन भोग उड रहे है···अरे दैया। अच्छी पढी-लिखी आई लाला···"

"देखो अम्मा! ढंग से समझ सोचकर बोला करो और जो कुछ कहना है, धीरे से कमरे मे कहा करो···आप चुप रहिए बुआजी···चल भाग यहां से नीतू···तू क्यो बडों के बीच मे खड़ी हो जाती है! हमेशा दोनों-तीनों उल्टा-सीधा सिखाती रहती है। शांति रखना तो दूर रहा, पानी मे आग लगाती रहेगी···"

"मुझे छोड···तू क्या चाहता है हमसे?"

"आप क्या चाहती हैं! सारा दिन काम करती है। खामोशी से सब सुनती है। आप सभी जानते हैं कि ये कैसे घराने में पली और किस वातावरण में बडी हुई है···खूब पढी-लिखी है···भाग्य की बात है कि इसे इस धर्मशाला मे आना पडा। आप तो अस्सी वर्ष पहले की बाते इस पर थोपना चाहती हैं। नीतू को समझाया करो न तमीज और व्यवहार···मेरे साथ घूमने चली गई या मेरे मित्र के पास मेरे कहने से बैठ गई तो भूचाल आ गया था! एक शब्द कभी प्यार का नही बोलती हो···कुछ नहीं···फिजूल है ये सब कहना···मै जल्दी ही बाहर की ब्रांच मे अपनी बदली करवा लूंगा···सबने मिलकर घर नरक बना रखा है···दोस्त ने कांय-कांय सुनकर क्या कहा होगा अपने मन मे···!"

तब से लेकर अब तक तनाव बना हुआ था। मांजी ने खाना नहीं खाया। कई बार लेकर गई, लेकिन वही तीखापन मिला—

"अरे छोटी दुल्हन! हमें तुम माफी दो। तुम रही बड़ी, हम रहे छोटे गवार। हम क्या जाने थी कि तुम्हारे आते ही बेटवा हमें छोड जाने की धमकी देगा। आते ही दो घर कराने में खूब ही तेज निकली। खूब किताबें घोटकर पुरखिन बनके आई क्यों—!"

सुन-सुनकर पहली बार कितना-कितना रोई है। क्या जिन्दगी होती है लड़की की भी! पापा को एक शब्द भी नही लिखा। न लिखेगी ही,

होगा भी क्या। मां-बाप शादी के बाद करे भी क्या। पहले ही मानसिक रूप से वे लोग परेशान हैं। इतना स्नेह, श्रम, आदर देने पर भी ये लोग ऐसा कटु व्यवहार क्यों करते हैं! उसके नन्हे-मुन्ने दिल मे इसका कोई समाधान नही था।

कभी सोचती कि ये लोग अपने बेटो से कुछ क्यों नही कहते! सारा दोष बहुओं का ही होता है क्या···? उसने भी कहां खाया है कुछ···आंखें सूज गई हैं। चौके मे भी जब-जब काम करने गई है, तभी जिठानी जी ने छोंक लगाया है···

"अब छोड़ भी दो छोटी! तुम रही पिया प्यारी···साथ जाने वाली हो। बाद में हमीं को तो सब करना-धरना है। ऊपर जाकर आराम करो भई···।"

क्या करे! इन्हे कैसे समझाए! विजय अलग परेशान नजर आ रहा है। समझ मे नही आता···अकल हैरान है।

शाम को अचानक किरन और उसके पति आ गए। विजय किरन के पति को लेकर बाहर निकल गया। वह किरन को लेकर अपने कमरे में आ गई। नीचे मांजी, जिठानीजी और नीनू को अब चैन कहां! बड़ी बेचैनी। आज तो जी भरकर बुराई करेंगी···बूआजी घर पर नही थी, वरना वो तो मक्खी बनकर दीवार से ही चिपक जाती। जब जी नही माना तो तीनों दबे पाव आकर दरवाजो और खिड़कियों पर आ लगीं।

भीतर दोनों सहेलियों में मिठास घुल रही थी। तभी किरन की आवाज आई—

"क्या हुआ री! ये आंखें क्यों सूज रही हैं! कही सास से फटकार खाई है क्या।"

"अरे हट···अपनी तो आंखें ही ऐसी भरावदार हैं। तेरी-सी हैं क्या निबौली टाइप—"

दोनों खिलखिलाकर हंस पड़ी थी···

"फिर उदास क्यों बैठी थी?"

"तू तो पागल है। किसी खयाल में होंगे हम। हमारी सास के प्यार का तुझे भला क्या अंदाज लग सकता है। उनके लाड़-प्यार से फुर्सत ही

नही मिल पा रही···उनके लाड़ले छोटे की छोटी दुल्हन हूं न ! सोच ले, कितना···चाव होता होगा !"

"अरी श्रुति ! मरी तुझे तो ताऊजी ने दहेज भी खूब दिया है। मुझे इतना नही मिला। पापा रिटायर हो गए, करें भी क्या ! बस यही बात कभी-कभी मन मे खटखती है।"

"हां, पापा ने सभी कुछ दिया है। माजी तो फूली नही समाती। सभी को खुश होकर दिखाती है। जबर्दस्ती घूमने के लिए भेजेंगी। कभी सिनेमा, कभी बाग, कभी कही...बस यही लगा रहता है। चाहती हैं कि मैं गुड़िया-सी सजी रहूं। जिठानीजी तो छोटी सगी बहन ही मानती हैं—काम ही नही करने देती। कहती हैं कि सुहाग का जोड़ा और मेंहदी की लाली पांच बरस तक महकती है। नीतू को देखा तूने ! कैसी प्यारी है। पूरे दिन छेड़ती है···अरे ! ये चाय तो पीले। वरना मांजी कहेगी कि सहेली की खातिर भी ढंग से नही की। अच्छा है किरन, पापा खुश होंगे कि चलो बेटी ऐसे प्यारे घर मे गई···क्यों न ! और दहेज-वहेज क्या ! जो थोडा-बहुत बना, दे दिया···फिर मेरी सुसराल वाले इसको पसंद भी नही करते···"

सुनकर बाहर तीनों के चेहरो पर रंग तेजी से बदल रहे थे। तभी श्रुति के उठने की आवाज आई···ला, किरन···और चाय लाती हूं। मजे से लेगे···ले, तब तक तू अपने जीजाजी के फोटो से बातें कर···

तीनों जल्दी से नीचे भागी। नीतू फौरन नया टी-सैट लाई। जिठानी जी ने स्टोव जलाकर पानी रख दिया। मांजी भरी आंखो से घर के बने लड्डू लेकर चौके में आई। श्रुति ने आकर ये सब देखा तो डर से जड हो गई। हे भगवान ! अब ये किस नये नाटक का सूत्रपात होने जा रहा है ! स्वप्न है क्या ! पैर कांपने लगे। मांजी ने प्यार से उसके बाल सहलाए। जिठानी ने मुस्कराकर चाय दी। वह ले जाने लगी तो नीतू चहकी···

"वाह ! हमारी भोली भाभी जी ! मुझे दीजिए। क्या सोचेंगी किरन दीदी···!"

नक्शा ही बदल गया था। उसकी आंखें आश्चर्य से फटी जा रही थी। वह पागल-सी मांजी के मुस्कराते चेहरे की ओर देखे जा रही थी। बड़े दुलार से वे बोली···

"जाओ बेटी ! चाय ठंडी हो जाएगी—हां, सुनो, किरन बेटी को और बन्ने को इतवार के दिन खाने पर बुलाना। जाओ बड़ी, तुम भी वहीं बैठकर चाय लो।"

उसके सामने एकाएक जमीन फटती, तब भी इतना आश्चर्य नहीं होता, जितना इस समय हो रहा था।

महमानों को विदा करके वह जैसे ही विजय के साथ लौटी, वैसे ही मांजी की आवाज सुनाई दी। दोनों के पांव बराबर देहरी पर ही टिक गए। माजी बुआजी की किसी बात को काटकर कह रही थीं···"क्यों हल्ला कर रही हो दिदिया ! बेकार हाय-हाय मत किया करो। सारे दिन हवेली सिर पर उठाए रहती हो। बहू अपनी है। बेटी की तरह है। खेलने-कूदने दो, अच्छी कही। मेरा विजय जैसे चाहेगा वैसे रहेगी। अरे, कोई यों ही है क्या ! गाड़ी भर विद्या पढ़ी है। भला-बुरा पहचाने है। मेरे सामने भी लड़की है। जरा अपना कलेजा टटोलकर देखो ! मां-बाप का मोह छोड़कर यहां आई है। गऊ ऐसी कि बोल नहीं फूटे। मैं नहीं सुनूंगी कल से कोई भी चखचख। नई बहुरिया हंसती-गाती ही सुहाए है···अरी ओ नीतू ! क्या बछेड़ी-सी हिनाये रही है ! कल से लक्खन सीख और सुन, बसती मिसरानी से कहकर आ कि कल-परसों से रसोई आके संभाले और देवला की बहू को भी ले आना, वो बर्तन-झाड़ू कर देगी। समझी। जा जल्दी जा···"

वह और विजय एक-दूसरे को देखकर मुस्करा उठे। दोनों को लगा कि जब खुलकर वर्षा हो उठती है, तब धुले-स्वच्छ नीले आकाश की हथेली पर सतरंगी छटा छिटकाता इन्द्रधनुष कितना प्यारा लगता है ! क्या मन के नीलाकाश पर भी खुशियों के इन्द्रधनुष खिलकर ऐसी ही अनगूंज उत्फुल्लता दे उठते हैं ?

गंध का अहसास

कई दिनों से लगातार पानी पड़ा था। आज कहीं जाकर वर्षा ने सांस ली थी। आसमान धुलकर एकदम चमक रहा था। भीगी किरन की गोद से छिटककर नहाया हुआ धूप का एक टुकड़ा खिड़की से झांका और खरगोश की तरह फुदक कर बिस्तर पर उछल पड़ा। उन्होंने आगे बढ़कर खिड़की पूरी खोल दी। कमरे में ताजा पिसी हल्दी सी बिखर गई। कई दिन से रिजेक्ट किए टावल से खिड़कियों के कांच साफ किए। लोहे की सलाखों में बरसात की नमी को छुड़ाने की चेष्टा करते हुए उनके हाथ थक से गए···।

एक प्रश्न उनके कानों से छू गया···क्या कोई भी नमी पोंछने से छूट जाती है! जिस उत्साह से वह टावल लेकर उठी थी, वह अब बाहर बिखरी गीली पहाड़ियों के पीछे कांपती बस्ती की तरह थकी-थकी शिथिल-सी हो गयी थी—कितने दिन! कितने वर्ष-महीने! छोटे-छोटे गांव, नगर, भीड़-भरे शहर और अब यहां वर्षों से, इन सदाबहार घाटियों के बीच वार्डन की हैसियत से···प्राइमरी स्कूल की पहली सीढ़ी पर से होती हुई कालेज की इस विशाल बिल्डिंग की बुर्ज पर आते-आते कितनी लम्बी यात्रा···अजीब सी यात्रा···कहने को बहुत सारे साथ···सहपाठी···कई पड़ाव···हंसी-कहकहे···उत्सव विदाइयां···अपूर्व भेंटें··· नये स्टेशन, पुरानों की स्मृतियां···अगम्य सम्बन्ध···मैत्रिक···लेकिन न जाने क्यों हर बार उन्हें खाली मैदान समेटने पड़े···खाली परछाइयां ठगती रहीं···सुनसान सपाट सूनापन निगलता रहा···कीमती भेंटें सजाती रही और मन में शून्य का विस्तार बढ़ता ही गया···यहां इन हरी-भरी घाटियों, गहरी नीली उदासी घाटियों, बेहिसाब अन्तहीन रास्तों, पहाड़ियों की ओर से या पहाड़ों की पीठ से झांकती-मुस्काती मन्दिरों के साथ भी न जाने क्यों उन्हें

रेगिस्तान की अनुभूति होती रही''' ऐसा क्यों ! न जाने क्यों ! अपने से कई बार प्रश्न पूछकर भी वह उत्तर नहीं ले पाई हैं ! रहा यह कि उदासी का वृत्त और घिर गया है मन में और हमेशा की तरह निरन्तर जिन्दगी से ही उन्होंने मौन समझौता किया है'''करती रही हैं'''

छुट्टी का दिन है, । पूरा होस्टल शोर में डूबा हुआ है'''उन्होंने बीच वाला दरवाजा पर्दे के ऊपर से ही थोड़ा बन्द-सा कर दिया'''परन्तु भीड़ भरा शोर धूप की तरह दीवारों तक से छनक रहा था'''कितनी आवाजें ! कितने ऊंचे-नीचे स्वर ! कितने शेड-रंग और कितने स्वप्न''' ! इनमें से जाने कितने ताजमहल का नक्शा बनेंगे और कितने इकहरी, दुहरी, तिहरी मंजिलों में छिप जाएंगे'''जाने कितनी द्वार से बस स्टैण्ड, वहाँ से दफ्तर और दफ्तर से टाइप और टाइप से बॉस की नजरों के बैरोमीटर तक उलझ-उलझ कर बन जाएगी—बिखर जाएंगी । कितनी ही दहेज की डोलियों का भारी पर्दा न उठा पाने के कारण मकबरों की खोई-टूटी गजल बनकर रह जाएंगी—

स्वप्न'''अभी बुनने दो'''खुली पलकों पर तैरने दो'''हर कमरे की खिड़की पर हंसी-मजाकों के इन्द्र धनुष खिंच रहे थे'''आड़े'''तिरछे''' गोल'''वे मुस्करा उठीं'''आहत, जख्मी'''टूटे पंखों वाली रंगहीन मुस्कान '''स्वप्न और इन्द्रधनुष'''। क्षणिक सुखानुभूति के पगले क्षण'''अस्तित्व-हीन मखमली अहसास'''ओस के पर्याय'''पलकों पर तैरे और झरे''' इन्द्र धनुष रंगीन प्रत्यंचा पर कसे और टूटे'''क्या टूटने वाली सभी चीजें पहले बहुत खूबसूरत और नशीली होती हैं ?

लड़कियों के छोटे-बड़े गोल घाटियों में फिसलती हुई घटनाओं की तरह बरामदों में तैर रहे थे'''रविवार का दिन हमेशा यों ही जलतरंग-सा गूंजता रहता है'''बाथरूम से लेकर कमरों तक सीढ़ियों, किलकारियों और नई-पुरानी फिल्मी धुनों का आरकेस्ट्रा घुंघरुओं की तरह छलकता बहता रहता है। वे भी आज के दिन लड़कियों को ज्यादा अनुशासन की गांठ में नहीं बांधती हैं'''वैसे ऊपर से वही कठोर लेप चेहरे पर चढ़ाए रहती हैं'''पर भीतर !'''हाँ, भीतर'''वही पैंतीस वर्ष पहले की कंचन हैं आज भी''' जिसको जिन्दगी ने भी हरी डालियों पर खिली कोंपल की तरह खिलना

रहीं···खुद को पूरी तरह से हवन कर डाला···हरेक के लिए आहुति बनती रही···बहनों को अच्छे घरों मे दिया···बेकार, बिगड़े हुए भाइयों को कही न कही चार पैसे के कामों को करने लायक बनाया···मां के लिए दवाओं का कभी न टूटने वाला क्रम संभाले रही और अपनी उम्र के एक-एक पत्थर को गरम चट्टानो पर टूटते, लुढ़कते देखती रही···

स्वप्न बिखर गए थे बहुत पहले ही—फिर इन्हे हथेली पर रखाने में डर लगता रहा—फुर्सत भी कहा थी ! घर मे अन्न की गंध के लिए पिसती रही—भीतर ही भीतर किर्च-किर्च टूटती-चटकती रही···साथ की दोस्तों की शादियां हुईं, घर बसे, वात्सल्य रस से भर उठी···पर वह उसी स्थान पर हर मौसम के गुजरने की गवाह बनी खडी रही···मौसमी हवाओं से छिलती रही टीसती रही···खण्डहर की तरह···

किसी ने कहा कि एक खास उम्र पर मन में कोयल पुकार उठती है···पुरवा की सांसों मे पपीहा अकुलाता है···कि पागलों पर वसंत झुक आता है···कि चाल मे फागुन गदराता है···उन्हें ये सब मजाक लगा··· शब्दों का खूबसूरत धोखा···वाक्यों का खलनायकी प्रयोग···बिना दर्शक की खुली मच का दुखान्त नाटक···सब झूठ, एकदम किताबी हिसाब का गलत उत्तर···उन्हे तो बस इतना भर याद है कि उनकी उम्र कही ठहर गई थी···इन पहाड़ियों पर जमी वर्फ की तरह···आंखों में सर्द हिमालय उतर आया था···सांसो में हर समय गर्म चिताओं की मछलियां छटपटाती थी।

···फिर मा भी चली गईं···सारी कच्ची जिम्मेदारियां अब भी उन्हीं की कंधों पर झूल रही थी—मां की नजर मे वे हमेशा देवी बनी रही··· या जबर्दस्ती बनाई गईं···अपनी ही परेशानियों के झरोखे उन्होंने सवारे···उन्हे देखने की या तो उन्हें कभी फुर्सत नहीं मिली या मां ने चाहा ही नही···उनका दर्जा घर मे रुपये की परिभाषा मे आता था··· एक बैंक, एक बही खाता···एक बीअरर चैंक···और उनकी जिन्दगी हर पल भुनती रही दूसरों के लिए···मिला क्या ? बीहड यात्रा···आकाश भर उदासी और ठहरे हुए काले समन्दर जैसी खामोशी···कुछ कहना चाहा तो "आप बड़ी हैं···" कहकर उनकी इच्छाओं को उड़ाया

गया···कुछ अपने लिए करना चाहा तो उत्तरदायित्वों की पत्तों को समेटने से वक्त ही नही मिला···मिला तो थके शरीर ने और जख्मी मन ने नई आहटों को द्वार से ही लौटा दिया···तभी तो मनीष की पूजा अधूरी रह गई और वह मां-बाप के रखे नाम वनफूल के साथ सचमुच ही वन का निर्गन्ध फूल होकर रह गई।

मनीष !···धीमी खुशबू की तरह चुपचाप एक दिन उनके सामने आकर खड़ा हो गया था···उनके उदासी के जंगल में मीठे शब्दों के निर्झर शब्द उठे थे···रेतीली नदी पर नमी की पर्तें छा गईं·· झील के सूखे ओठों पर हंसी की मोतिया झलक झिलमिला उठी···हर समय एक संगीत-सा गूंज उठा था। मनीष···! जो एक कविता का रूप था···एक गजल···एक तरन्नुम···कागजों पर बहता पूर्ण काव्य था···कवि भी और शायर भी··· कितनी बार बच्चों की सी जिद्द मे बहका था···

"वन्नो ! तुम कब तक यों ही विवश बनी रहोगी ! खुश रहा करो··· अच्छा, सुनो, अगर मुझे प्रसन्न रखना चाहती हो, मेरी चित्रकारी···मेरी कविता जीवित रखना चाहती हो, तो तुम्हें हंसते रहना होगा···तुम कहो तो वन्नो ! मै तुम्हारा शेष बोझ उठाने को तैयार हूं···पर यों उदास मत रहा करो···"

लेकिन क्या वह अपनी उदासी छांट पाई थी। फिर भी सप्रयास वे हंसती रही···बोलती रही ··उसकी कविता की प्रतीक बनी रही··· गजलो मे लिपटती रही···मगर उसकी बांहों मे घिर कर वर्षों की क्लान्ति नही मिटा पाई।

मनीष रूठता, मचलता, खाना छोड देता, उनके आगे-पीछे छाया की तरह घूमता···वे और भी उदास हो जाती···क्यो यह पगला बालू के किनारे से सहारा लेना चाहता है ? क्यों अपने चंदन से जीवन मे आग की चिंगारी रोप रहा है ? क्या मिलेगा उसे एक झंझा को कलेजे में छिपाने से ! वह कभी-कभी सख्त हो जाती और मनीष की झील-सी निर्मल, निष्पाप आंखों मे मेघ उमड पड़ते···घुंघराले रेशमी गुच्छों से भरा उसका सिर उनकी गोद में विश्राम पाने को मचल उठता···हाथ का गुलाब उनके पांवों पर आ उतरता···

"नही, नही, मनीष ! तुम मुझे रोज गुलाब मत दिया करो···"

वह उसी अनजाने भोले अन्दाज से पूछता···

"क्यों ! ठीक है···, नही दूंगा···कुछ भी नही करूंगा, आऊंगा भी नही, अच्छा···! मैं ये जो दो घड़ी बिता लेता हूं, यह भी नही जीऊंगा···"

वह कैसे समझाती उस स्नेह भरे पुरुष को कि उसने गलत चाल पर दाव लगाया है···एक ऐसे नाम के साथ प्रीति की सगाई की है, जहां दुख, दर्द, अभाव और खालीपन का बोध है केवल ·

"बन्नो ! मैं तुम्हारी पूजा करता हू···स्नेह में आदर बहुत है···क्या जानती हो यह ! ये गुलाब केवल मेरी अर्चना है, तुम मेरे लिए वह नही हो, जो सबके लिए हो,···अच्छा सुनो, मैं क्यों पागल-सा तुम्हारी जिन्दगी का सहयात्री बनना चाहता हू, यह क्या फिर से बताना होगा ! तुम कितनी अकेली हो आज भी और कितनी अकेली हो उठोगी कल·· कभी सोचती हो ! मैं जानता हूं कि तुम मुझे अपनी पीडा को कभी खुलकर नही बताती हो···मेरी मदद कब लेती हो मुह खोलकर ! लोगी भी नही···पर···"

"पर क्या मनीष ! लो फिर सुन लो, यदि कभी कुछ लेने की जरूरत पड़ी, तो तुम्ही से लूगी और कभी किसी को बुलाने की आवश्यकता पड़ी··· मेरा मतलब है कि अगर मौत की गोद मे सोने से पहले थोड़ा भी होश रहा, तो केवल तुम्हे ही पुकारूंगी···हां रे मनीष, यदि पुनर्जन्म की बात सच है तो विश्वास रखो कि तुम्ही मेरे साथ होगे···सम्पूर्ण संबंधों के साथ—क्यों !"

···वह सुनता, उदास होता और अपनी हथेलियो से मेरा वाक्य रोक कर सूनी नजरो का वियोग-पक्ष छोड़कर चला जाता···यों ही आते-जाते कब वर्षों के किनारे टूटे···कब वह इधर आ गई और मनीष कब अपनी आत्मा की प्यास उठाए यों ही दूर खडा उन्हें देखता रह गया···जिन्दगी का वीरान टापू गुलाबों की महक से मधुमासी बना क्या !

होस्टल की गहमागहमी मे कुछ थकान-सी आ गई थी···कैफेटेरिया में उतनी हलचल नही रही थी···शायद लड़कियां इधर-उधर बिखर गई थी···सिनेमा, उपन्यास, नीद, शहर की शॉपिंग···बहुत कुछ···

उन्हें आश्चर्य हुआ कि वह कब से गन्दा टावल गोद में डाले ईजी-

चेयर पर बैठकर यों ही खाली दीवार पर पैंतीस वर्ष की नौकरी का नक्शा खींचती रही हैं…! कितने घंटे… ! रविवार के अवकाश का डबल टुकड़ा इसी उधेड़बुन में नष्ट हो गया है…पर आज इतने दिनों के बाद…जीवन के इस संध्याकाल में यह सब कुछ क्यो याद आया है ! क्यों मनीष देवदार की तरह सामने आकर खड़ा हो गया है ! क्यों मन हाहाकार कर रहा है ! क्या सचमुच उसे आवाज देने का वक्त आ गया है !…आवाज ! क्या कच्ची आवाजों से क्षितिज झुकते हैं ! क्या मुरझाए गुलाब फिर से पूजा की आरती बन सकेंगे !

…काव्य का आहत पखेरू फिर से रेगिस्तानी सीमा को बाहों में भरने की हिम्मत करेगा ! शक्ति का उत्ताल तरंगित झरना क्या अब चादनी का पीलापन पी सकेगा ! सपनों के छोर तो सैकड़ों मीलों पहले ही छूट चुके…फिर !…ये विकलता क्यों !

…कल केशू का पत्र मिला…क्या तभी से !

मेज पर पड़े पत्र को उन्होंने उठाया…दीदी ! बहुत समय बाद आपको याद कर रही हूं…आप से बहुत प्यार पाया है…आप हमेशा पूछती रही कि होस्टल में जब सभी लड़कियां खुश रहती है, तब तू क्यों इतनी उदास, कमजोर और उखडी-उखडी-सी रहती है…! लेकिन मैं आपको इसका कभी उत्तर नही दे पाई।

दीदी ! सात बहनों और एक पगले भाई की भीड मे क्या कोई समझ-दार लड़की खुश रह सकती थी ! पढकर घर की टूटी गाड़ी का बोझ ढोने मे लग गई, यूनीवर्सिटी के स्वप्न नही पूरे हो सके…कालेज की अलमस्त जिन्दगी आंधी मे रुई की तरह उड़ गई…बहनें फैशन मे बहक गईं…मन पसंद जिन्दगी जीने लगी · भाई पागलखाने के जंगलों में कैद हो गया… पिता कैंसर के ग्रास बने और मां…! उनकी भला क्या जिन्दगी रही !…

दमे ने और चिंता ने पिछले वर्ष उन्हें भी नई जिन्दगी देने के लिए मौत ने बुला लिया…जाने कहां-कहां नौकरी की…सभी की जिन्दगी सुधरती गई, लेकिन मेरे चारों तरफ एक गहरा सन्नाटा छाता गया… भीतर हमेशा टूटती रही…अपने से युद्ध करती रही…आफिस मे एक टाइपिस्ट की नौकरी पर गई…यहां वेतन ठीक था…पहला ही दिन था…

किसी ने पीछे से कहा कि—

"यहां अकेली क्यों बैठी हैं, आइए, चाय लें···" मैं पहचान गई··· इंटरव्यू वाले दिन यह भी हमारी मण्डली मे था···लम्बा कद, मजबूत, पतला-दुबला व्यक्तित्व···कम बोलना···खामोश रहकर बहुत कुछ कह देना···हम मिलते रहे···सीढ़ियों पर, चाय पर, मेजों पर, और बस की इंतजार में···*अकेलेपन की ऊब को उसके साथ मिटाने लगी।*

दीदी ! एक दिन आप वाला प्रश्न उसने भी मेरे आगे रख दिया कि—

"तुम इतनी उदास क्यों रहती हो ! अकेली क्यों हो !···"

जाने क्या अबूझा सम्मोहन था···कौन-सा आत्मिक संबंध बन गया *था कि मैंने उसे अपनी व्यथा सुना दी···जिन्दगी के फटे पृष्ठ उसके हाथों* में थमा दिए···वर्षों की खामोशी उसकी साँसों मे घोल दी···वह खामोश सुनता रहा···चाय का बिल चुकाया और खोये हुए अन्दाज मे लौट गया ···दूसरे दिन मेरे हाथ में एक पर्चा थमाया···लिखा था कि—

"तुम्हारा स्वप्न मैं पूरा करूंगा···मुझ पर विश्वास करना होगा तुम्हें··"

कुछ दिनों बाद उसकी बदली हो गई···हफ्ते-भर के बाद उसका पत्र मिला···

"केशू ! तुमने उस दिन जो दर्द मेरे आगे बिछा दिया था, वह अपने आप में इतना भारी था कि शब्दों से उसे मैं नही उठा पाया था···लेकिन खामोश रहकर मैं भीतर से कितना गला हूं, यह तुम नही जान सकोगी— जो बात अपने मुह से मैं चलते समय नही कह पाया था, आज कह रहा हूं कि तुम मेरी हो, केवल मेरी···शायद इतने दिनों तक वक्त की लहरें तुम्हें इसलिए *भटकाती रहीं कि मुझे तुम्हारा इंतजार था···समझ* रही हो न ! आज से तुम हंसो, मुस्कराओ, सारी उदासी धो डालो, मैं तुम्हें लेने आ रहा हूं··मैंने तुम्हारे मामाजी को लिख दिया है, मुझे पूरा विश्वास है केशू कि मैं तुम्हें खुशियां दे सकूंगा···"

···और दीदी, सच···मैं खुशी से बौरा गई···एक हफ्ते बाद वीरेश से मेरी शादी होने जा रही है···दीदी ! निमंत्रण-पत्र औरों के लिए है,

आप मेरे इस पत्र को पढ़कर अपनी केशू को आशीर्वाद देने अवश्य आएंगी …ऐसा मेरा विश्वास है, आप मेरी गुरु ही नहीं मां भी रही है…आएगी न दीदी हमें आशीर्वाद देने ?…

…उन्होंने पत्र तकिये के नीचे रख दिया…मन किसी अंधेरी गुफा में लुढ़कने लगा…दो क्षण वह यों ही आकाश पर बादलों का जमाव देखती रही। मनीष ने भी तो एक दिन यही चाहा था…एक लम्बी सांस कब निकल गई? बांसों का जंगल कहीं चटख गया…

वह मेज की ओर गई…लैटरपैड लिया…मुस्कराई…ब्रेवगर्ल… पत्र लिखा कि वे आ रही हैं उनका मन आज ऐसा हल्का-सा हो उठा था, जैसे वर्षों बाद उन्हें कोई अपनी-सी खुशी मिली हो !…वर्षा की दो बूंदें कैसी सौंधी गंध से धरती का अंतस भर देती है !

कचनार के छंद

पौ फट चुकी थी। पिछवाड़े के दगड़े में जाते हुए बैलों के गलों की घंटियां टुनटुना उठीं। मुरली ने रजाई में से मुंह निकालकर झांका। सच-मुच ही औसारे में सुबह चुपके-चुपके आ रही थी। तीर की तरह हवा चेहरे पर घाव कर गई। उसने फिर सिर रजाई में डाल लिया। पास की जगह अभी गर्मी दे रही थी। उसने सोचा सुबिया अभी उठकर गई है शायद, तभी बिस्तरा गर्मा रहा है।

लाख बार कहा कि कुनबा कौन फटा पड़ रहा है जो उठ जाती है चक्की घुमाने! घाम निकलने पर भी तो आटा पीस सकती है। सेर-आध सेर दानों का क्या नाम! पर इसे जाने कौन बैमाता सिर चढ़ती है कि आधी रात से ही सिर पर घड़ौधां फिरा देती है। इस चक्की की घर्र-घर्र में भला आदमी चैन ले सकता है?

...और एक ये ससुर जाड़ा है कि सिर पर पाव धरे चला ही आता है। पिछले बरस कहा था मां से कि और गुदड़ी भरवा ले...जाने खेत का मिजाज कैसा रहे! रूई के करछन अटे पड़े हैं...चर्खी पर पेल-कात कर दो-चार दरी-दोहर करवा ले, पर वह सुने तब न!

सारी रुई औने-पौने बेच छप्पर डलवा लिया। कौन ढोर मरे जा रहे थे कि छः हाथ ऊंची कच्ची ईंट की दीवार खिचवा ली! अब मरो जड़ाए। सोचते-सोचते उसने बहुत देर के अकड़े पैर सीधे फैला दिए। कपड़े ऐसे हो रहे थे जैसे अभी पोखर के पानी मे निकाले हों।

मां और सुबिया पर जो झुंझल आई तो सोच लिया कि मरो सब, आज खेत मे हल नहीं जोडना। यों ही मर जाएंगे फांय-फांय करके...इस जनम आराम नही मिलने का। पीली धूप में बैठ तेल मलने को कहां मिल पता है! धूल-मिट्टी में शरीर सारा सूखा-तिड़का पड़ा है। पर आज तो

बस तेल की डिबिया भरवाकर मालिश करनी है। वह यह तय कर आराम से पड़ा रहा।

बैलों-भैंसों की सानी घोलते हुए मुरली की महतारी मिसरी ने सोचा कि तडके के पांव निकल आए, सूरज देवता आकाश में आ गए, यह छोरा क्यों पड़ा है अभी तक खटिया मे ! आज हल जोड़ने की फिकर नही है क्या इसे !

इसका बाप क्या गया कि बस गुलछर्रे हो गए इसके तो। दुनिया खेतों में पहुच गई, पर एक यह पटवारी जी है, जो अभी गुडगुड़ाय रहे हैं। वह सानी के भीगे हाथों ही कोठे मे आई। मुरली समझ गया। मां बोले इससे पहले ही कुनमुनाया—

"अरी मैया ! हड्डी-पसुरियां सब दर्द से पिरा रही हैं। सांस रुकी-रुकी जा रही है। जोड़-पोरुए टूटे जाते है। मार गोली हल-बैल के। आज खेत गोड़ने को दम नही है री···"

सुनकर मां के होश उड़ गए।

"अरे क्या कौतुक पाल बैठा ! ठहर तो नबज दिखा जरा···"

कहकर वह बाहर मटके में ओले जैसे पानी मे हाथ पखार कर बेटे के पास आई। उसके ठंडे हाथों की कल्पना करते ही मुरली ने और चारों ओर रजाई समेट ली और बनावटी कंपकंपी छुटाता बोला—

"मां ! तू जी छोटा मत कर···यों ही सर्दी-जूड़ी चढ़ती होगी। तू बहू के हाथ गुड़ की चाय तुलसी का पत्ता डालकर लोटा भर भेज दे··· और सुन, काली कजरिया को जरा प्यार से कुट्टी-सानी करके खिला दीजो।"

मिसरी के मन में पक्का शक हो गया कि जरूर बेटे के मन बेईमानी नाची है। या तो यारबासे में बैठकर हंसी-ठट्टा करने को मन है या देही को धूप-तेल-पानी देगा। पर बहाने-बाजी क्यों करता है ?

उसे बहुत दिन पहले का उसका बचपन याद आ गया जब ऐसे ही बहाने कर बोखरी से नाज ले जाता···कभी खेत पर रोटी देने का बहाना कर पूरे दिन पेड़ों पर बंदर की तरह उछल कूद मचाकर रात को मुह-माया फोड़कर घर पड़ा रहता। आज भी बढ़कर बांस भले ही गया है,

इसका बचपना नहीं गया। बेसरम कितना है···मुझसे ही चाय लाने को कह देता! जीभ चला दी कैसी कैंची की तरह! बिना हिचक-रुके कैसा बर्राया है कि बहू के साथ भेज दे। अरे वाह रे सपूत···

एक इसके बापू थे। जिंदगी बीत गई, दिन की रोशनी में चार बोल नहीं बोले। बस रात को दीये की रोशनी मे ही मिले-बोले। आज तो शहरी जमाना गांव मे भी आ गया। बेटे-बहू के कायदे उठ गए।

मां के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान तैर गई। चक्की पीसती बहू की ओर उसने बड़े प्यार से देखा···बरसों की साध के बाद बहू मिली है।

कितनी बार कहा कि धीरे-धीरे चक्की में कौर डाला कर, नजर लग गई तो तन की बात क्या, धरती को भी चाट जाती है, लेकिन बहुरिया कहां मानती है! खोंच भर-भर अनाज यो पीसकर रख देती है जैसी मेंहदी घोल डालती हो! बिना कहे कठौती-भर आटा धूप आने से पहले ही बना कटोरदान भर कर रख देती है।

पड़ौस मे छज्जू की मां झीकती रहती है कि सूरज चोटी पर चुभता है तब बहू पटरानी उठती है। ऐन वखत पर कहेगी—"रोटी काहे की बने, चून तो रत्ती-भर नहीं।" तब मेले की भीड़ जितने कुनबे को क्या चाकी के पत्थर फोडकर खिलाए? एक अपनी बहू है, कसर नहीं छोड़ती सुबह-शाम की गाड़ी खीचने में। मेरे घर आकर बहू-बेटे को झीकने से क्या मतलब! भुगतो अपने घर का कचरा। वह खड़ी रही और बहू घर्र-मर्र पीसती रही। उसे क्या पता था कि सास की आंखों में खुशी सरसों-सी फूल रही थी···

तभी उसकी नजर उसकी बाईं कलाई पर गई। उसमे तीन चूड़ियां खनक रही थीं। दूसरा हाथ भरा हुआ था। वह मन मे झुंझलाई·· कितनी बार जनम-जली सुखिया से कहा कि अपने मरद से कह दे कि वह शहर से लाल रेशमी चूड़ियां लाकर दे दे तो मैं बहू को हाथ भर पहना दूं। पर ये छोटे लोग सुनें तब न। इनके कान बहरे हो गए हैं। खैर, पैंठ से मंगाऊंगी। एक काली चौड़ी पट्टी की धोती भी मंगानी है जो बहू के दूध-मलाई जैसे चेहरे पर खूब फबेगी। मेंहदी का शौक तो बहू को है ही। बहू-बेटी लगती ही तब अच्छी हैं जब चलें तो आंगन में महावर रच उठे।

लेकिन जिसे सुनाकर वह यह सब कह रही थी, वह खूब जानती थी कि उसके पति का जी कितना और क्यों खराब है। वह उसकी चालाकी पर मन ही मन मुस्करा उठी। जरूर आज घर में पड़े रह कर मस्ती काटने की सूझ रही होगी। कुछ झुंझल भी आई कि इतनी भोली मां को भी सताने में वह नही चूकते।

उसने पतीली भर चाय बना पहले बड़ा गिलास सास को दिया, फिर गुड़ की गर्म लटपटाती चाय लोटे मे भर वह कोठे में पति को देने गई। बिछुओं और झाझनों की मिली-जुली रुनक-झुनक सुन मुरली की आंखो में शरबत भर उठा। वह सीधा बैठ गया। चाय का खूब दूधिया रंग देख खिलखिला कर हस पड़ा और बोला—

"समझ गया, इस चाय मे मां ने सभी देवी-देवताओ का आशीर्वाद घोलकर भेजा होगा ! मां ही हमारा ध्यान रखती है, वरना तू चाहती है कि मैं सारे दिन तेरी आंखों से दूर काम करता रहूं। बता झूठ तो नही बोल रहा मैं ?

वहू की हंसी के साथ काजल-बिंदी सभी मुस्करा उठे। वह नजर मार कर बोली—

"बस रेने दो, क्यों खोट दे रहे हो ! ऐसे देखे मां का दूध पीने वाले। दोनों जून सेवा करते-करते मैं हारी जा रही हू और दरोगाजी की नजर सीधी नही होती, पर कान खोलकर सुन लो'''कितनी खुशामद करो, पर मैं यों निठल्ले नहीं पड़े रहने दूगी। शरम नही आती अच्छे-खासे पड़े हो और बीमारी का बहाना कर अम्मा को बहकाते हो ! लो पियो चाय और अच्छे कमाऊ की तरह खेत का रास्ता पकडो।"

मुरली ने तुलसी की महकती चाय गर्म-गर्म बहू को पिलाकर बच्चों की तरह इठलाकर'''मचलकर कहा—

"कुछ भी कह रूपा ! आज तो घर में बैठकर तेरी सूरत ही देखूंगा। तू तो ठंडी पड़ती जा रही है''मैं रूखा थोड़े ही हुआ हूं। एक बरस ब्याह को हो गया, कभी हंसी-दिल्लगी नही की दिन मे बैठकर। गंगा की सौगंध चाहे उधर का विरमा इधर आ जाए, पर मुरली आज घर से नहीं हिलेगा, क्या समझी !"

बहू तिनककर बोली—

"बस, दूर ही रहो''' खूब समझी हूं'''इस गांव के मर्दों ने शरम घोलकर पी ली है। तभी तो शहर से जो लाला जी आते है, कहा करते हैं कि भाभी! मुरली के जादू में मत फंस जाना। सो मुंह धो आओ, मैं तुम्हारी चालों में अटकने वाली नहीं। लो अब कसम मेरे सिर की, जल्दी घेर से बैल खोल खेत चल दो। तुम तो समझते नहीं हो'''सभी घर-बाहर की औरतें चार दिन बाद ताने मारेंगी कि मुरली की बहुरिया देखने में भोली है, पर आदमी को चार टके का कर पल्ले मे बांधे फिरे है।"

कहकर बिना पति का उत्तर सुने झमक कर चूडियां-बिछुए वजाती-खनखनाती चली गई। मुरली चुपचाप धमकी सुन हसता रह गया। जब वह चौके में आई तो मां ने पूछा—

"कैसा जी है?"

बहू ने मुंह में कपड़ा ठूस कर शरमाते हुए कहा—

"अम्मा जी! भले-चंगे है। सुभाव ही मस्ताना है। घर-भर को तंग करने मे एक ही हैं, फिकर मत करो।"

तभी आंगन मे पीपली के नीचे रस्सियां उठाते हुए मुरली ने मां को देखते हुए कहा—

"ले मा! तू भी खुश हो ले, और तेरी बहू भी। पहले ही कहा था कि तू थानेदार से मत ब्याह कर मेरा। खूब दरोगा लाई है मेरी जान के लिए। देख ले खराब जी में भी घर से बाहर कर रही है?"

मां हंसती हुई बेटे-बहू की दिल्लगी देखती रही। मन गुदगुदा रहा था। उठ कर पीठ पर हाथ मार कर लाड़ से बोली—

"तुझे ऐसी ही दरोगाबहू की जरूरत थी। अब तेरी बहाने बाजी नही चलेगी।"

मुरली मुस्कराता हुआ चला गया। दरवाजे पर मुड कर उसने चौके की ओर देखा। बहू ने भी घूंघट ऊंचा कर उधर देखा। तभी सास को अपनी ओर देखते हुए शर्मा कर गर्दन घुमा ली। मां के मन में सरसों फिर खिल उठी। चलो देर-सवेरे सही, अब घर चहक उठा था। नाज, पानी, गाय-भैंस, सभी में बरक्कत थी'''।

इन गर्मियो मे शहर चिट्ठी डलवाएगी कि शंकर यहीं आकर दूध-दही से देही बना लेगा। बहन का लड़का है तो क्या हुआ, अपने से भी ज्यादा पाला-पोसा है ! मिसरी ने मन मे पक्का इरादा कर लिया खत लिखवा कर डलवाने का। सर्दी बीतने ही उसके पर्चे पूरे हो जाएंगे, बस सीधा इधर ही निकल आएगा।

अभी धूप की पिलाई तुलसी चौरे से हटी नही थी कि हनुमान-अखाड़े का श्रीपाल दौड़ा आया और पछाड़ खाकर आगन में पड़ी खटिया पर गिर पडा। यह मुरली का गहरा दोस्त था। मां कुछ पूछे तब तक मुंशीराम, मंगू और भूरी सिंह शैरू की गाड़ी में मुरली को डाले आ पहुचे। पीछे-पीछे आधा गांव था। मां पागल सी बाहर दौड़ी। चादरा हटाते ही चीख मार कर गिर पडी।

मुरली की दाईं ओर की आंख बाहर निकल पडी थी। आते फट गई थी। भीड़ मे से आवाज आ रही थी।...कि जैसे ही मुरली खेत की मेंड़ पर पहुंचा कि एक सांड भागता आया और दोनों सीग इसकी छाती मे भोंक दिये। देखते-देखते वह जमीन पर गिर गया, आतें बाहर निकल आईं और प्राण-पखेरू उड़ गए। हाय राम ! गजब हो गया। भरा-पूरा लाठी जैसा जवान पट्ठा खतम हो गया।

बहू के कानो मे भनक पड़ी···वह बावली-सी बाहर भागी और लाश पर दोहत्तड़ मार कर गिर पड़ी। उसका सुहाग पुछ गया। चूडिया बिखर गईं। मिसरी का बेटा गोद से छिन गया। गांव-भर मे दोपहर का चूल्हा नहीं जला। कई दिन तक सास-बहू कलेजा फाड़-फाड़ कर डकराती रही। ···पर भगवान ने जो उम्र भर का दुख इस घर पर डाला था, वह आंसुओं मे खतम नही हुआ। दिनो ने दोनों के घाव पर मरहम लगाया। घर का काम गिरता-पड़ता चल पडा। खेत आध-बटाई पर दे दिए।

मां हाय-हाय करके उठती-पड़ती दिन काटने लगी। मुरली को छः बरस का छोड़कर उसके बाप गुजर गए थे। बड़ी कतर-ब्यौत गृहस्थी मे करके बेटा जवान किया था। हल-बैल-खेत मे कायदे से चल पड़ा था··· बड़े चाव से बेटे का ब्याह किया। बरस भीतर ही विधाता ने यह जुल्म ढा दिया !

अब मिसरी का मिजाज बदल गया। उसी सास को, जो सौ जान से बहू पर लट्टू थी, अब वह फूटी आख नही सुहाती थी। सोते-जगते एक ही रट लगी रहती थी कि इस कुलच्छनी ने मेरा बेटा सटक लिया। न यह उस दिन उसे घर से बाहर धकेलती, न वह मरता। डायन-चुड़ैल उसे निगल गई। कुछ दिन तो वह यह बात दबी जबान से कहती रही, धीरे-धीरे घर बाहर खुलकर कहना शुरू कर दिया। जब कोई मोहल्ले-टोले की औरत आए, तब यहां रोना ले बैठती। यह अगर ढग की होती तो क्या भरी उमर में यों दगा दे जाता! मैं कहू हूं कि ज्यादा रूप की औरत मर्द को भारी होती है। ब्याह-आई पर ही मैंने इसकी पीठ पर सापन देखी थी। मैं क्या जानू थी जब कि यह मेरे बेटे को ही चाट जाएगी।

वह हैरान थी। क्या यह वही सास थी जो उसे लाड़-प्यार से देखा करती थी! उसकी बडाई करते नही थकती थी! क्या हो गया है इन्हे! बेटे की मौत ने क्या इनकी अकल भी हर ली जो हर समय अपना ही रोना देखती हैं, कभी मेरी भी सोची? मेरी तो जिंदगी बर्बाद हो गई। मैं दुखी नही हूं क्या? इन्हे मुझे तसल्ली देनी चाहिए थी, उल्टे दुश्मन बन बैठी हैं। मैं क्यों भला उन्हे घर से बाहर मरने भेजती? वह इसी दुख में दिन पर दिन घुलने लगी।

उसका रंग पीला पड़ गया। उसे न भूख लगती न प्यास। किसी भी काम मे उसका जी नही लगता। हल्का-हल्का बुखार उसकी हड्डियों मे पुर गया। रात-दिन रोने से दिमाग इतना खोखला हो गया कि उसे चक्कर आते थे···पहले सास कुछ न कुछ उसका हाथ बटा देती थी, अब घर का पूरा काम उसी पर आ पड़ा था। मुरली की हंसी, उसकी सूरत एक घडी को भी उसकी आखो से दूर नही होती थी। उस दिन का आखिरी मजाक, चलते हुए दरवाजे पर खडे होकर उसकी नजर उसे खाए डालती थी। सास की जुबान दिन पर दिन कठोर होती गई।

कल हद हो गई।·· जैसे ही वह कोठे से निकली कि मिसरी उसके सामने छप्पर में आ गई और दहाड़ कर बोली—

"क्यो सवेरे-अंधेरे अपनी परछाईं डाल दी। अब किसे खाने की सोची है? जाने किस कुबेला मे तेरे मनहूस पांव इस घर की देहरी पर पड़े

थे कि वंश ही चौपट हो गया। घर से निकालकर बेटा चिता पर घर दिया, क्या लेगी और अब ! तेरी जैसी जादूगरनी के काटे कहीं आदमी पानी मांगता है ! अब तो काला मुह दूर कर।"

सुनते ही बहू भुस की साल में घुस गई। कितनी रोई, कितना सिर कूटा, जाने कब तक वही बैठी रहती कि आगन की ओर से किसी के जूतों की आवाज आई।

"राम-राम मौसी" किसी ने कहा। अरे ! ये तो शहर वाले लालाजी आए हैं। जरा झांका तो देखा काली पतलून और पीली कमीज पर कोट पहने, शहरी चमड़े का बक्सा लिए लालाजी ही थे। मां लपक कर उठी और शंकर को कलेजे से चिपटा कर रोने लगी। शंकर ने तसल्ली बंधा कर चुप किया। पूछा—

"मौसी ! बहू कहा है ?"

"अरे होगी यहीं कहीं, अब और कहां जाएगी ! भाग फूटे लेकर खुद पैदा हुई थी और यहां आकर हमारे फोड दिए भैया !"

मिसरी सिर पर हाथ मार कर बोली···

बहू दुख में भी लाज से गड़ गई। कैसे बाहर निकले ! ये तो लालाजी के सामने भी बकने से बाज नहीं आएंगी। विधवा तो खैर भाग्य से हुआ जाता है. लेकिन विधवा के साथ ऐसा बर्ताव उसे कैसे जिंदा रहने देता होगा ! ये अच्छा बोलें तो हमारी दोनों की जिंदगी कट सकती है। ये मुझे तानों से छेदती हैं, क्या मैं नहीं कह सकती कि तुम्हारा बेटा दगा तो मुझे देकर गया है। करम तो मेरे, तुम सबने फोड़े हैं।···पर छिः, क्या मैं भी ऐसी ही बन जाऊं ! उसका मन टुकड़े-टुकड़े हो गया था।

तभी बाहर से मां की तेज छुरी-सी आवाज आई—

"अब खूब नखरे-टमरके कर लिए, बाहर आ। बेटवा शहर से आया है। सरबत-दूध जुगाड़ कर दे। चार रोटी सेक दे या हुक्म दे तो मैं ही चूल्हे पर बुढ़ापा झोंकूं !"

शंकर आंखें फाड़े मौसी को देखने लगा। क्या हो गया उसे ! पहले जब आया था, तब तो इसके मुंह से बहू के लिए मिसरी झरती थी। तभी बहू बड़े संकोच से दबी बाहर निकल कर जल्दी से चौके में घुस गई।

दो दिन बाद मां किसी काम से लंबरदार की हवेली में गई थी, तभी मौका पाकर शंकर कोठरी के दरवाजे पर खड़े होकर बोला—

"तुमने अपने शरीर को घुला डाला है। मुझे बहुत दुख है कि तुम्हारे साथ भगवान ने बड़ा अन्याय किया। मौसी अलग तुम्हे बुरा कहती है। पर अब क्या हो सकता है ! तुम कम-से-कम वखत से खा-पी लिया करो।"

तभी उसके कानों मे भीतर से सिसकियों की आवाज आई। शंकर का मन हिल गया। उसने देखा, लंबी गोरी काया फीकी पड़ गई थी। नंगे हाथ-पैर उसका मन कचोट उठे। वह एक भयानक दर्द दिल मे लिए दूसरी कोठरी में जाकर बैठ गया। उसका दिमाग घूम रहा था। छोटी उमर, घर का ऐसा बर्ताव ! कुत्ते-बिल्ली भी प्यार पा लेते हैं, लेकिन मौसी की गंदी जुबान जहर उगलने में कसर नही रखती। दो-चार दिन बाद कलेजे पर पत्थर रख वह विदा हो गया।

एक महीने बाद देवरानी मिसरी के घर बेटे का ब्याह करने आई। घर की गरीब थी। सो जिठानी ने अपने सिर पर शादी-ब्याह का खर्च रोप लिया। दूसरे, घर का दुख भी हल्का करना चाहती थी।

शंकर भी शहर से आया। घुड़चढी का दिन आया···। काजल की रस्म होनी थी। जाने बहू को क्या सूझी कि दोनों उंगलियों मे काजल भर चली आई लगाने···बस झुकी ही थी कि औरतों की भीड़ को चीर मिसरी की देवरानी आई और हाथ खीच कर ओसारे मे पटकती बोली—

"हाय-जुलम तो देखो इसके ! अपशकुन करने मे यहा भी नही चूकी। क्या यही मिली थी सुहाग-पूजा के लिए ! हजार बार कहा कि जनमजली यहां अपनी छूत मत डाल, पर यह तो मुझे नीचा दिखाने पर तुली है। हाय ! बेटवा का कैसा सगुन बिगाड़ा है ?"

कहते-कहते बहू का हाथ खीचा और कोठे मे ले जाकर उसे कोने में ढकेल दिया। सारी औरतें तमाशा देख रही थी। फिर तो मिसरी ने बहू के प्राण ही खीच लिए जैसे···

तभी आंधी की तरह शंकर आया और आव देखा न ताव मौसी मिसरी का हाथ पकड़ कर बहू के पास खींच कर ले गया। सब औरतें मुह फाड़े देख रही थी। सामने छोटे आले में सिंदूर की डिबिया पड़ी थी।

उसकी धूल झाड़कर ढेर सारा सिंदूर बहू की सूनी मांग में डालकर बोला—

"ले जाओ मौसी ! बहू को लाल जोड़ा पहना कर चूड़ियां डालो इसके हाथों मे। मैं बहुत देख चुका हू, अब नही देखा जाता। तुम्हें सुहागिन बहू चाहिए और बेटा चाहिए न ! अब से मैं तुम्हारा बेटा हूं और बहू तुम्हारी सुहागिन है। लगवाओ इसी के हाथों से काजल। मुरली दादा बड़े खुश होंगे यह देखकर कि मैंने इनका थोड़ा कर्ज उतार दिया। उठो रूपा, अब कोई तुम्हें अभागिन नही कहेगा। तुम्हारे आंसू पोंछकर जो भी मैं तुम्हे दे सकूगा, तुम्हें दूगा।"

मिसरी कांप रही थी। बहू लाज से मर गई। वह धीरे से उठकर बेहोश-सी शंकर के पैरो पर लुढ़क गई। तभी मिसरी ने आगे बढ़कर बहू को गोदी मे उठा लिया।

और काफिला रुक गया

छोटा-सा डिब्बा…अजीब मितलाई-सी गंध…रात-भर का सफर…छोटी-बड़ी गठरियों की तरह गडमड आदमी, औरतें, बच्चे और बर्थ पर भी सवारियां-बक्से ऊपर-नीचे हर तरफ…वह बेचैन था…बाथ रूम जाना था, परन्तु गठरियों पर सिर टिकाये वहां भी बच्चे, आदमी और औरतें… कमाल है… यह तो तब हालत है, जब चारों तरफ दो या तीन के नारे हैं !

छिन-मिच करती आखिर रेल सुबह के धुंधलके मे पोकरन के स्टेशन पर आ खड़ी हुई…शहद के छत्ते पर जैसे कोई ढेला मार दे, पूरे डिब्बे में भिनभिनाहट-सी मच गई…धक्कमपेल…अजीब हडबोग…लाठी, डण्डे, गठरी, फूलदार बक्से, कटोरदान, गोल चौड़े लोटे, रस्से, बैंटे…ये सामान हाथों पर और कंधे पर लदे हुए थे…धूल, कोयला, तम्बाकू और बीड़ियों के धुए की मिलीजुली कपड़ों में बसी गंध…न ताल, न कहीं मेल…

ठेठ राजस्थानी फेंटे, ओढने और घाघरे · बदरग चूड़े, मैले, चीकट सस्ते मोती गुथे बोर पहने औरतें…किसी-किसी जवान चेहरे पर झूलते हुए अनगढ़ से नथ ··सलोनेपन मे धुली मेहनत की गुलाबी रगत…

घुटनों तक कसी धोती, मोटे जूते, बगल बंदी और अंगरखे पहने मर्द लोग…फूले-लिपटे पग्गड़-फेंटे…अधिकतर मर्दों के हाथों मे भी मोटे-मोटे चादी के कड़े…जितने ऊंचे-तगड़े इनके कद उतनी ही कड़कदार कलफ लगी-सी बोली…लेकिन मीठी और सरल…

मैं ठहरा उत्तर प्रदेश का…यहां इस छोटे-से स्टेशन पर लग रहा था कि या तो किसी फैन्सी ड्रैस के समारोह में आ गया हूं…या इन सबके बीच मे ही कोई चिड़ियाघर से लाया जानवर हूं।

दोनों तरफ आग जलाकर एक-दो कुली अपने को सेक रहे थे…पास में

ही एक ऐंचकतानी-सी घड़ीनुमा दुकान और मैली-सी सिलवर की केतली में उबलता पानी। चाय पीने की ललक जाग उठी। बेहद बर्फीली ठण्ड··· आंखों में जैसे पूरे सफर की धूल अकड गई थी। थकान ने जैसे पलकों को कैद कर लिया था···अब किधर जाना होगा? पूछने पर पता लगा कि आगे जैसलमेर तक बस मे जाना होगा···कब! इन्तजार कीजिए···

सुनकर नीचे से ऊपर तक बर्फ के ग्लेशियर से फैल गए। हथेलियों से पहले आंखें दबाईं। मैले-गदे रूमाल से पहले जूतों की फिर बालों की धूल झाड़ी और उसी से रगड़-रगडकर मुह साफ किया।

सुबह की स्वच्छता का बोध हुआ···टूटी ईंटों पर एक पैर का सहारा ले चाय पीने लगा। सर्दी चूकि जमाये डाल रही थी, इसलिए मन किया कि प्लेट मे ही पूरे प्याले को उड़ेल कर एक घूट में पी जाऊं, लेकिन प्याले की तली और प्लेट की बीच की पट्टी बहुत ही गदी हो रही थी। हथेलियां गरमाता हुआ यो ही धीरे-धीरे पीने लगा···

दांतों मे अब भी रेतीला अहसास था। चाय, प्लेट, ओठ, दांत सभी रेत की किरकिराहट से भरे हुए थे···थोडी देर बाद शोर उठा···'बैठो'··· 'बैठो' नजर दौडाई तो एक डिब्बानुमा मोटर खड़ी दिखाई दी। इसी सुबह जैसी सुस्त, ऊंघती हुई और बिखरी-सी। भेड़-बकरियों की तरह देखते-देखते यात्री ठुंस गए। ड्राइवर को शायद कण्डक्टर ने सकेत दिया होगा कि चमकती अंगूठी वाले हाथ में सूटकेस और होल्डोल मे बिस्तर कसे सामने वाला आदमी कुछ हस्ती वाला है शायद···इसीलिए अपने कधे पर पड़े अंगूरी चारखाने वाले तौलियानुमा अगोछे से उसने इंजन के पास वाली सीट का कोना पोंछकर वहा मुझे बैठने के लिए जगह दे दी···

चलो, जगह तो मिली···पहली बार अहसास हुआ कि कपडों का ठीक-ठाक सिलसिला भी कभी-कभी आदमी की अलग पहचान दे देता है।

"मोटर कब छुटेगी भाई!"

"टाइम की पाबन्दी जरूरी नही इधर···[illegible]···खड़ी रहेगी नही···क्या पता और सवारी आ जाएं [illegible]

"अब कहां से आएंगी! बैठेंगी कहां!"

"वाह साहब! लगता है इधर नये आए

पीछे सीढ़ी पर, दरवाजों पर···कहां खाली जगह नही है इन पर ! अभी सवारियां पूरी कहां आई हैं !"

और सचमुच ही थोड़ी देर बाद वे सभी जगह लद गई। ऊंची-दबी आवाजों में राजस्थानी बातें···जो मेरी समझ मे कम आ रही थीं, परन्तु मरुधरा की बोली में मिठास मिल रहा था।

खांसी के दौर जोरों पर थे···बीडियों के धुंए में सर्दी की ठिठुरन छांटने का प्रयास पूरे जोर पर था। हरेक यात्री के पास एक लाठी, एक पोटली, एक लम्बी खिसाती जैसी गठरी और सूत या मूज की रस्सी मे कसा बिस्तरा···यह सब सामान इनके लिए जरूरी था शायद···बाकी और छोटी-मोटी चीजें···सभी ने रजाई, कंबल, मोटे खेस-दोहर ओढ़ रखे थे।

डिब्बानुमा मोटर में हरकत हुई और करबी-घास से लदे हुए ट्रक की तरह हिलती-डुलती चल पड़ी। भीतर की हाय-तोबा पहले तो कुलबुलाती रही, फिर अपने आप ही शान्त हो गई। मुडकर देखा सभी व्यवस्थित हो गए थे। परिस्थितियां कितनी जल्दी एक-दूसरे के साथ समझौता कर लेती हैं! सभी के चेहरों से परेशानी के सारे चिह्न धुल चुके थे···एक वीतरागी सा भाव छा गया था···कि ये तो सफर है···दो घडी का दर्शन मेला··· जाने फिर कौन कहां ! सभी ईश्वर के बंदे···सभी बैठो···न ये तेरा सफर और न मेरा···सबका बराबर है···

धचके से मोटर चलती···रफ्तार जरा पकडी नही कि फिर रुक जाती···झुग्गी-झौंपों से घिरा छोटा-मोटा कोई गाव-सा दिखाई देता··· एक-दो आदमी उतरते, भूला-भटका कोई चढ़ता तब फिर से चल देती··· दूर-दूर तक फैली रेत की चौड़ी-महीन लहरें ही लहरें···पर्तें ही पर्तें··· सर्दी की गुलाबी चमकती सुनहरी बालू · हर तरफ छितराया ढेर-ढेर पीला-मटमैला गुलाल। हजारों वर्षों से सिकुड़ी मिट्टी-बालू की ये रेशमी पर्तें·· अजीब मौन ·· उदास, भीगा-सा वातावरण और कितना सन्नाटा···?

मेरा प्रान्त, घर और अपने सभी जाने किस जादू से बहुत पीछे छूट गए थे··· रह गया था चारों तरफ फैला यह रहस्यमय-सा भूरा और

सुनहरा रेतीला समुद्र···प्रकृति के कैनवास पर जैसे रंगों में उलझा-भीगा कोई चित्र हो ! ···अथवा धूप के शीशे जड़े किसी बड़े बक्स में बंद कोई जादुई परिवेश हो···! मैं सोच रहा था कि आदमी के साथ जुड़ी हुई मजबूरियां सुविधाएं खोजती-खोजती कहां ले जाती हैं !

उम्र का लम्बी-लम्बी राहों पर अनवरत दौड़ना·· बीच मे थक कर दो घड़ी कहीं छांव तले बैठ जाना···सांसों मे साहस और पांवों में शक्ति बांधकर-उठकर फिर चल देना···यही जीवन का वास्तविक दर्शन है शायद ?

जिस गाव के छोटे से अस्पताल मे मुझे भेजा गया था, वहां पर सुबह से दोपहर तक और दिन ढले से दीयाबत्ती तक मुश्किल से चार-पांच मरीज आते थे···छोटी-मोटी बीमारिया · ज्ञानसिंह नम्बरदार ने ठीक ही कहा था कल···

"बाबूसाब ! बड़ी बीमारी···बड़े खान-पान पर ही आती है···बड़े संदूकों का धन आखिर कहीं तो ठिकाने लगे ! कुछ सौकिया बीमारियां भी वहीं पलती हैं··· अब डाकघर बाबू ! देखो ना···खांसी, बुखार, पेचिस और दाद-खुजली तक को तो दो टके नहीं हैं, बड़ी बीमारियां भी बड़ी समझदार हैं···आ गई इधर, तो हमारी ही तरह भूखी-प्यासी मरेंगी··· न मास मिलेगा न खून···हड्डियों की ठठरियों में मरना है क्या उन्हें फंस कर···!"

हंसता-हंसता वह कितना दर्द उगल गया था गरीबी का···अभावों का···

मैं हैरान देखता रह गया था उसे···आदमी के मुंह से ऐसा कटु सत्य !···अपनी बात कहकर कैसा तो हो गया था उसका चेहरा ! ओठों के चारों तरफ उदास पीली-सी हंसी···गोखरुओं का एक पूरा जंगल··· ठीक ही तो कहा था कि पैसा और आराम देखकर उगती है बीमारी··· विद्याधर बाबा जरा इससे उल्टा कहते थे···

"अरे परेस···डाक्टरी पढ़ने गए, सो भली करी···पर अब मजा-मौज नहीं है इस पेशे में···क्यों क्या ? कछु बात भई के सवेरी जूरी चढ़ी और दो टिकियां सटकाई के देही तुरत-फुरत घोड़ा है गई··· तीन दिनों

बाद फिर टांग पसर गई तो चलके फिर गिटका दई एक पुरिया कि फिर चंगे···अरे तब की बीमारी-जूड़ी सुन लेओ, तो तुमकू जूड़ी चढ़ जाए··· तुम्हारी डाक्टरी की आंखें फट जाएं। महीनों वो झरझरा के बुखार चढ़े था के घर भर के गूदड़े पटक चक्की के पाट जमा दें, पर कपकपी न जाय···पसुरियान मे दर्द उठे, तो सात गांव हाय-हाय पहुचे···पर वाह रे जब के वैद-हकीम···और ऐसी-ऐसी जड़ी-बूटी, के चार जड़-झरकटी उबाल के पिलाई और हड्डी-हड्डी साफ···चार टके का इलाज और बरसों का आराम···गरीब भी खूब सुखी और अमीर भी···अबके डाक्टरन के पास है कहा ! हाथ भर सुईन का घमंड !···ससुर पूरे शरीर कूं छेद-छाद मलीदा बना के रख देवें हैं···दो-चार गोली, उन्ही को पीस-कूट पुड़िया बांध देंगे···ऊपर सू तो लगे के रोग गया, पर भीतर सैकड़न बीमारी और नई तैयार···भज लेओ राम-नाम···"

सच ही कहते थे बाबा···पूरे दिन मरीजों के साथ क्या न्याय कर पाता है वह ! कितना पढ़ा···सीखा···क्या फायदा मिला है ! एक ये कम्पाउण्डर है ! दिन में तीन बार नीद निकालता है···करे भी क्या ?

शाम भी इधर की बड़ी सुहानी होती है···दूर-दूर तक ठण्डी रेत और भीगी-भीगी-सी महीन-चिकनी मैदा-सी बालू···इसकी छुअन से मन भीतर तक भीग उठता है···

वह उस गुमटी नुमा अस्पताल से निकलकर रेत के इस विशाल सागर में उतर आया था···चारों ओर मखमली-रेशमी सलवटें···मन मे कही काटा-सा चुभा···तुली की साड़ी का पल्ला भी तो यों ही सिमटा-सिकुड़ा-सा उसकी मुट्ठी मे रह गया था···तुली को वह कब पास समेट सका था !

रेतीले गलीचे पर शाम गहरी हो उठी थी···उसके मन मे भी कुछ परछाइया घिर उठी थी···उसने कोट उतारा बाहों को झाड़ा···जूते खोलकर रख दिए और दोनो हाथों की उंगलियों को कैंची-सी बनाकर सिर के नीचे लगाकर उसी चिकनी बालू पर लेट गया···

अजीब-सी सिहरन भरी गुदगुदी···तुली की हथेली जब पहली बार छुई थी, तब ऐसा ही आभास हुआ था···गुदगुदा और भीगा-भीगा सा और

तुली की हथेली भी, इस बालू जैसी मुलायम'''ठण्डी और ओस-भीगे पत्ते-सी कांपती-लरजती सी थी'''

फिजूल-सी हंसी ओठों के कोनों पर तैर गई'''हाथ हटाकर रेत पर सिर टेक कर चित लेट गया'''ऊपर बहुत ही धुला-धुला गहरा नीला आकाश'' नीचे सो रहे हैं यहां के नये डाकघर बाबू'''परेश वर्मा साहब'''वह खुलकर हंस पड़ा'''बड़ा अच्छा लगा'''बहुत दिनों के बाद अपनी हंसी से एक नई-सी जान-पहचान हुई'''सन्नाटेदार चुप्पी में हंसी की खुशबू दूर तक हवा के साथ बह गई'''

जल्दी से हाथ धोकर किवाड़ पर पड़े रेजे के टुकड़े से पोंछ कर उसने चिट्ठी खोली'''बाऊजी की थी'''लिखा था'''मन लगाकर काम करना। मेहनत में ही बरक्कत है ''शहरी जीवन हमेशा साथ नहीं देता'''अपने भविष्य का और हमारे बुढ़ापे का ख्याल रखोगे तो परमात्मा तुम्हें आशीर्वाद देगा'''वरना अपना पेट तो जानवर भी भर लेते हैं'''भागने की मत सोचो। नौकरी मिलना हंसी-ठट्ठा नहीं है। आगे समझदार हो''' नरेश की पढ़ाई भी पूरी करानीहै। इस माह उसने तीन सौ मंगाये हैं''' जैसे-तैसे भेज दिये हैं'''नीरू के लिए भी कोई लड़का नजर में बिठाना। तुम्हारी मां याद करती है तुम्हें'''ठीक रहना'''हमारे घुटनों की गठिया फिर जोर पकड़ बैठी है'''वटूक का तेल मलवा देते है घीसू से'''त्योहार पास है'''तुम्हारी मा का कहना है कि इस पर घर जरूर-जरूर आना है— आशीर्वाद तुम्हारे साथ है हम दोनों का'''

दो बार चिट्ठी पढ़ी। दिन-भर घर की छोटी-बड़ी बातें याद आती रहीं'''शाम को अपनी स्थाई जगह पर जाकर वह लेट गया''' जाने क्यों यह जगह उसे बड़ी राहत देती है'''खेजड़ी का छितराया-सा गुमसुम पेड़ और पतों पर पतों वाली यह बालुई रेशमी चादर'''ये ढलवां रेतीली मीनारें'''बेहद सन्नाटेदार जगह'''जब तक यहां शाम न गुजरे, चैन नहीं मिलता'''यही तो उसका कैफे हाऊस, क्लब या सिनेमा हाऊस है'''जब कभी दिन ज्यादा उदास या मनहूस लगता है तो एक चक्कर और कर लेता है वह यहां का'''अजीब सी सांत्वना और तसल्ली मिलती है उसे यहां'''

सामने सड़क···पथरीली···जब गाड़ी आती टंकी भरे पानी की तो गांव मे जैसे बरात आ जाती···किलकारियां, चीखें, आंखो की चमक बढा देती···जिसके हाथ जो आता लेकर भाग पड़ता···पीपों, कनस्तरो, कलसों और देगों की लाइनें बिछ जाती।

एक-एक बूंद पानी के लिए कई जोड़ी आंखो की ललक···सच्चे हीरो की चमक जैसी। हफ्ते भर बाद कही जाकर ये ललक ललछौंही हो पाती थी। कल था न टर्न ! दम्भू की घरवाली खाली कलसी लिए बीच में ही रह गई थी···उसने पूछा था कि—

"पहले क्यों नही आई !"

कितनी रुआसी हो उठी थी···

"कहा से आती बाबूजी ! दो जून से न रोटी बनी है, न बूंद पानी है टिपारे में। टाबर-ठीकरे सब बिल्ला रहे हैं भूखे-पियासे···कहा जी, न धरती समाये न बादड़ फटे···दोनों नरकिये नसे मे धुत पड़े है। सुसर अफीम खावे और मरद कच्ची दारू खैंचे है सो खूब चढावे भी है···सुबह-सुबह निरने पेट डसाके गया मासपीटे गनेसी के साथ, सो चल उल्टी, दे उल्टी···लीपते-पौछते देरी हो गई, फिर भागी···पर म्हारा करम खोटा···पानी बूंद नी···रे पिरभू ! देख सबनै···"

"अब क्या करेगी तू !" हमारी झारी में थोड़ा पानी हो, तो ले जा"···वह उठता हुआ बोला था।

"नही, नही, बाबूजी···मैं ले आऊंगी···पहले क्या टंकी ही आए थी ! पाच-छै मील जाना पड़े है पानी को। बहुत नीचा तारा जैसा पानी···मीलों लम्बी रस्सी···बड़े कसाले का पानी···हम तो बाबू जी पुराने खलों में भी पानी जमा कर लेवे हैं···क्या जी ! ये कुइयां जैसे ही होवे है···पत्थर की कुण्डियों जैसे···अजी न्हाना किसे है ! महीना-बीस दिन मे मुंह पोंछ लिया जाय, थोड़ा है क्या !···अब किसे दोस दें बाबू ! अठीने तो सभी दारू-अफीम के सौकीन हैं···तुम बचना बाबू···खूब कच्ची दारू खिचती है···कोई चसका न डाल दे···"

और ऐसी बिखरी-सी जिन्दगी मे भी कैसी सरल हंसी हंसकर चल दी थी वह कलसी भर पानी की तलाश में···जाने कब बचपन मे पढ़ा था कि

भारत मे घी-दूध की नदियां बहती हैं···यह सोने की चिड़िया है···सोने की चिड़िया तो नही देखी, पर पानी की बूद भी नही गिरती यहां तो ! दूध की नदी वाला जादू कहां गया !

पूरे दो वर्ष पाच महीने घर मे वेकार पड़े रहने के बाद यह नौकरी मिली···डाक्टरी की पढाई वह नही करना चाहता था, लेकिन बाऊजी की जिद्द के सामने उसकी कहा चली थी···! काश ! वह अपनी मर्जी से अपना भविष्य बनाता···कला साहित्य मे बचपन से रूचि और करनी पडी-लेनी पडी साइंस-बॉयलॉजी···लम्बी उम्र का फासला तय करके मैडीकल कोर्स किया तो मिली वेकारी···पूरे दो वर्ष पांच महीने·· लेकिन बैठा कहां रहा ! दो दिन घर तो चार दिन बाहर भागो···

अर्जियां···! इन्हे ही इकट्ठा करे तो कई जिल्द तैयार हो जाएं···हर समय बाबूजी की हिदायतें···वहां जाओ, उससे मिलो, अमुक से सिफारिशी चिट्ठी लो···वह नही मिले तो फलां के पास दौडो···खाना-पीना फिर होगा···जिन्दगी भर होगा ··पहले उठो भागो···जरूरत हो तो ये समय लो ···चलेगी जी···रिश्वत भी देनी पडेगी···फिर तो रहो सच्चाई की पगड़ी बांधे धूल चाटते · ! लो, मुट्ठी मे कुछ थमा कागज तो सरकाओ···और यों वह भागता फिरा था···पहाड से दिन और ढेर लम्बी रातें·· पूरे दो वर्ष पांच महीने···कैसी जली-कटी सुनाते थे बाबूजी !

अम्मा बेचारी क्या बोलती ! कभी बोली हो जीवन में तो जानें··· जब से होश संभाला, तब से या तो चूल्हे की गीली लकडियों के धुंए में आंख-नाक लाल किए पाया या बाऊजी के घुटनो मे तेल-चर्बी मलते हुए देखा···कितना कहा कि अम्मा, गैस न सही, स्टोव तो ले लो···ये धौंका-फूंका-फाकी से तो जान छूटे ··लेकिन बाऊजी खाएं तो लकड़ी कोयले पर बना ही···तब मां क्या करे !

सुबह-शाम बाऊजी का एक ही रहता श्लोक·· कभी उससे, कभी मां से···

"देख ले, अपने कुंवर को ! ए साले ! ठसक दिखाते हैं···शहर में ही रहेंगे···जैसे इसके बाप की जागीरें बिखरी पड़ी हैं न ! अरे, जहां भी सींग समाए जाकर देखो तो···सुनता कौन है ! सोचते होंगे हीरामन कि बकने

दो गधे को'''बाप है सो भौंकता रहता है'''कहता हूं गांव क्या बुरे हैं। वहां जा'''रुपये दे-दाकर काम करा'''जहां गठरी भर कमाई लगाई पढाई मे और सही'''पर ब्रह्म के औतार ठहरे न कुलवंत ! नरेश की पढाई अलग चल रही है और ये रीनू छाती पर बांस सी गहरा रही है।"

उसी शाम को तुली से भी हिसाब-किताब साफ हो गया था। हर तरह से दिल टूट गया था'''दिल ! हत्तेरे की'''डाक्टर होकर भी इस बकवास को मानता है ! एकदम बेबुनियाद भावुकता'''

इसी दिल की दुहाई जब दे बैठा था तुली को तो क्या मिला था ! थोड़े जले-कटे वाक्य न !

"परेश ! तुम नही जानते क्या कि मां-बाप खाता-पीता लड़का ही ढूढते हैं ''और बुरा मत मानना, लड़कियां भी ऐसा ही चाहती हैं सभी''' मां-बाप से हटकर तो मुछ कर गुजरने की हिम्मत नहीं। समझ लेना कि सपना था'''एक भूल थी। क्या ! हां, काकू ने कोई ओवरसीयर ढूढा है चण्डीगढ मे · हा एक हफ्ते बाद सगाई है'''ये क्या ! छोड़ो न हमारा पल्ला। वैसे भी हमे ये हरकतें माफिक नही आती'''ओह ! छोड़ो न !"

और पल्ला उसकी मुट्ठी मे मुडा-तुडा रह गया था'''इसी नर्म-रेशमी सिकुडी बालू की पर्तों की तरह'''

एक हफ्ते बाद का जश्न किसे देखना था'''! रेतीले पहाडों को उसने आकर गले लगा लिया था। निपट अपरिचयात्मक माहौल'''रेत-पत्थरों मे उलझा ये जैसलमेर-बाडमेर का इलाका। सोचा था तब, जब आया था कि चला जाऊंगा, पर अब लगता है कि नही जाऊगा। यहा एक मोह है, जो कस रहा है हर दिन, फिर जाऊं भी कहा !

बाऊजी की चिट्ठी जब पढ़ रहा था, तो साथ में हुक्का लिए चौधरी मामन सिंह कँसे जाते-जाते प्यार से बोले थे—

"डाकधर बाबू। सब खैरखाम (राजी खुशी)"

उसने कहा था पुलक कर—

"हां जी सब ठीक है—"

"हूकारा में ! (और घर मे)"

—"घर मे सभी सुख-चैन से है"

"ढूंकारा में ! (पड़ोस मे)"

"जी···सब कुशल मंगल हैं···" सुनकर कैसे प्रसन्न···, जैसे इन्ही के घर से कुशल-मंगल की चिट्ठी आई हो ! हंस के बोले थे···

"भैय्या ! बूढे हैं न अब ! बातें करने का चाव कहा गया है ! अब लो न ! आपका ही बखत खराब कर बैठे···आपका कीमती ठहरा बखत··· पर अपनी तो यो हालत है···जो कहावत है न कि···ठाली नांयड़ काहड़े मूडे, ठाली डूम ठिकांड़े ढूहे·· नही समझे न !···समझ लो के खाली-निठल्ली नाइन क्या करे ! सो बैठी-बैठी कटरे मूंड़ती रहती है और डूम बातें करने को ठौर ढूढ़ता फिरता है···"

अपनी ही बात पर खूब हंसे थे···निश्छल हंसी···नही, वह अब यहा से नही जाएगा···

कई बार आस-पास के गांवों मे जाना पड़ता था। ऊंट पर···शुरू मे परेशानी बहुत रही। टांगें-कमर सभी टूट-सी गई थी···वह बात अब नही·· सम के लिए सड़क अच्छी निकली है···पहले तहसील थी···बीच-बीच में इधर-उधर बिखरे खड़ीग···बरसाती पानी के छोटे-छोटे बाध··· कही-कही इसी पानी को छिड़क बालू नरम करके गेहूं और चावल भी बो लिया जाता है···बता रहा था एक गाव का आदमी···उसका गांव सबसे प्यारा लगा था···एकदम साफ-सुथरा···खाते-पीते कई घर। दूर तक बालू की तहो मे डूबा-डूबा यह गांव···रात को वहां ठहरा भी था। वही तो सुना था कि इधर के लोग बड़े जीवट के हैं···

उसने बालू की परतो पर करवट बदली···पास के इलाके में रेत के कितने ऊंचे अम्बार हैं ? पानी, चारे की हवा तक नही···मरीज आकर बतलाते हैं···

मा ने बाऊजी से लिखाया है···त्यौहार है न नजदीक···आना है जरूर तुझे···पकवान धरे न रह जायें···यहां इस महगाई में हरसाल की तरह बरक्कत नही हो पाई है···कड़की भी रही कुछ हाथ मे···फिर भी तेरी पसंद का थोड़ा-बहुत बनाया ही है···खा-पी जा आकर···देख परेश ! आना है बेटा तुझे, समझ न !···

खूब समझा है डाक्टर परेश वर्मा···सुबह उसी रेत के ऊचे अम्बार

वाले गांव में धंसते ही सामने वाले झोपडे के आगे कैसे बैठे थे वे दोनों ! बुढ़िया और उसका पति···एक हाथ माथे पर और दूसरा घुटने पर··· दोनों जैसे पत्थर की मूर्ति हों··· ! सामने दो पशुओं की लाशें···काई लगे उल्टे लुढके सूखे घड़े···भीतर-बाहर धूल और गर्द—

"क्या है ! क्यों बैठे हो ऐसे !"

"देख तो रहे हो डाकघर सब ! सारे दिन लकड़ी बीन-बान ये तीन रुपये कमाये · घर आ के देखा तो ये बछडा और गाय मरे पाए । ये हथेली पर तीन रुपये फैलाए कहती है कि पछांह से बेटा आ रहा है साल बाद··· सो तिलकुटी बनाएगी···सोचो बाबू ! क्या तिल का भाव और क्या गुड़ का ! रुपये कुल तीन, एक गाय हिलगी है खूटे से···कल तक वह भी पिरान छोड देगी···आटा-नमक अलग । दो-चार दिन बाद कही जाना होगा लकड़ी लेकर·· तब तक यही तीन रुपये और ये इनकी तिलकुट्टी बनाएगी···मानती नही···समझा कर हार गया···"

· सिर में हथोडे से चल पडे थे···मन कसैला-सा हो उठा । मां की चिट्ठी जेब में···खा-पी जा आकर···देख परेश ! आना है तुझे बेटा · और ये तीन रुपये ! बेटा साल बाद पछांह से आ रहा है···तिलकुटी और सामने पशुओं की लाश ! नमक-रोटी जीवन की अलभ्य आवश्यकता·· घास-पात के साथ-साथ भावनाएं भी जल गईं···है तो केवल भूख-प्यास और अधनंगी हड्डियां·· आदमियों की भी और पशुओं की भी · *अच्छा हुआ उसने बराबर की झोंपडी वाला मरीज देख फीस नही* ली । क्या ले, किससे ले !

"ले लो डाकघर बाबू ! ये दो रुपये रख लो । इधर बहुत गरीबी है··· जी । सबसे बडी गरीबी की फांसी तो यहां की बेटियों के गले लिपटी है बाबू···ज्यादातर पैसा लेकर जरूरत मंद बूढों, अपाहिजों को ब्याह दी जाती हैं···बेटिया छोटी दूध पीनी उमर में···घर-गोद में थोडा मेलना-कूदना छुटा नही कि माथे का बोर और माग का सिंदूर पुछ जाता है··· यों कुवारी ही विधवाएं हो जाती हैं···जाने कितनी मिलेंगी ऐसी···सारी उमर का सराप ढोती रहती हैं रेत-दूहे छानती-फांकती···"

बस नही लिए ये रुपये···ऐसी बात सुनकर कोई ले सकेगा क्या ?

ढेर रेत···बालू···ऊंचे-नीचे टीले···अजीब यहां की हवा और यहां का आदमी···बड़ी जिंदादिल हैं औरतें···उनकी कल वाली बातें···? अब भी मन मे फुरहरी-सी उठ रही है···

चार-पांच औरतें···हाथ मे हांडी, सिर पर गट्ठर · थोड़ी मखौल की···पर एकदम खरी ··सोचने पर मजबूर करती हुई···

"डाक्टर जी ! चारो तरफ दो-तीन बच्चो की हाय-हाय···डेरे-तम्बू-कैम्प···नसबंदी·· सब बेकार···इस गांव के पानी के नलके खुलवा दे अगर सरकार गांव-गांव और शहर-शहर में तो सारी मुसीबत साफ···"

"अरे, कैसे !···यहां का पानी···नल···सरकार···क्या मतलब है !"

वह भौंचक्का-सा पूछता ही रह गया था और वे सब हंसती-हंसती—खिलखिला कर चली गई थी···गाव के एक जवान ने शरमाते-हकलाते बताया था कि इस गांव का पानी मरद की सारी शक्ति खींच कर उसे अशक्त, खोखला और घुन लगे गेहूं-सा बनाकर रख देता है···

कितनी हंसी आई थी सुनकर···ओह ! कितने दिनों, महीनों बाद एकदम दिल फाड हंसी···उन औरतों का मजाक···उधर फैली हथेली पर तीन रुपये···बेटा···तिलकुटी···मां की चिट्ठी निकाली और उस पर उसने अपने जाने की तारीख जो लिख दी थी, अब काट दी···नही जाएगा···नहीं···

तिलकुटी···केवल तीन रुपये···यहां पर सबसे बड़ा वैभव और लालसा केवल नमक और आटा···हर तरफ कहर···सूखा···रेत ही रेत···कंटीली झाड़ियां···झरबेरियां···दूर-दूर तक थुरहन, जहरी बूडी···गोखरू·· पथरीली जमीन···रेत···बस रेत···इन्ही में मुट्ठी भर झोपड़ों के गांव···और इनके बीच आया हुआ इनका नया डाकघर बाबू परेश शर्मा···

नही···अब कहीं नही जाएगा वह···

घाटी में पिघलता सूरज

आदमकद शीशे के सामने उदास भाव से श्री कामतानाथ धीरे से आकर खड़े हो गए···सामने वाले गोल कमरे से बरामदा, वहां से बेलों और गमलों से सजा आगन, फिर चौड़ा दालान और ड्राइंगरूम···इतना-सा सफर तय करने पर ही उनके गौरवर्णी माथे पर पसीने की झालरें लहरा उठी थी···

वैसे आज धूप कुछ ज्यादा ही तेज चुभन वाली महसूस हो रही थी···बड़ी अजीब-सी उमस···तपती हुई जलन···भारी पर्दों और कूलर से ठंडे हुए इस बड़े हाल में भी उनका मन घुटा जा रहा था···गर्म रेत भरे मैदान-सा सन्नाटा उनके भीतर समाया हुआ था···दिमाग में भयंकर तनाव···मन बेहद उचाट···कहीं भी जी स्थिर नहीं हो रहा था। वह शीशे के और नजदीक आए। अपना चेहरा देखकर क्षण-भर के लिए चौंके···सुलगते लावे की भूरी राख छा रही थी वहां। सूखी, अंदर-धंसी आंखें और पथराये ओठ।

खिड़की पर झूलते खूबसूरत कीमती पर्दे की [illegible] डोर उन्होंने एक झटके से खीची। खुले वातायन से ठंडी हवा का मंद-सुरभित झोंका तैर आया। भोले-भाले अबोध शिशु की कोमल हथेलियों जैसा मृदुल-स्पर्श उनके चेहरे को और खुली गर्दन-छाती को सहला रहा···मिट्टी की सौंधी गंध की खुशबू भी गमक रही थी। [illegible] माली क्यारियों में पानी दे रहा था?

उनके मंथर कदम अब खिड़की पर आ रुके थे···[illegible] देखे···गुच्छे-गुच्छे रंग-बिरंगे तरह-तरह के फूल···घास की पांत हरे-भरे जवान-जहान पेड़ों के झुंड···सामने ढेरों गुलाब···लाल-गुलाबी, [illegible] वह काले गुलाब···इन पर उनकी पलकें [illegible] ठिठकीं [illegible]

शौक से यह बगीचा उन्होंने लगाया था···? फलों-फूलों से टहनियां यों ही नही लद गईं ? लेकिन···लेकिन अब ? अब क्या ! सब बेकार···फिजूल··· उसी झटके से पर्दा फिर खींच दिया।

पीछे मुड़कर एक रीती दृष्टि ड्राइगरूम पर डाली। सामने शीशे की मेज पर कई एलबम रखे हुए थे···सभी को उदासीनता से बडी दराज खोलकर रख दिया। हो क्या गया आज कि पूरा घर, बाग-बगीचा, यह सारा का सारा वातावरण उन्हें पराया लग रहा था···

ऐसी मानसिकता आज ही बनी हो, ऐसी बात नही थी···बल्कि पिछले एक-डेढ हफ्ते से ऐसा ही गर्म रेगिस्तान कलेजे को भूने डाल रहा था···दोस्तों के बीच, क्लब की गहमा-गहमी के बीच रहकर भी वह चाह-कर भी अपने सहज रूप को पा नही रहे थे।

तभी किसी ने बराबर वाले कमरे में रेडियो खोल दिया···शास्त्रीय-गायन की बारीक-सी धुन लहराई ही थी कि रेडियो बन्द हो गया और किसी गजल का मिसरा तरन्नुम मे थरथरा उठा···जरूर प्रतीक ही होगा···घर मे आया नही कि संगीत मे उलझ गया···आए होंगे जनाब बैडमिण्टन खेलकर !

एक कसैली मुस्कान से उनके ओठ और ज्यादा सख्त हो उठे। उन्होने झल्लाकर खुरदरा हुक्म वहीं से फेंका कि रिकार्ड बन्द किया जाए। यूज-लैस गजलें···ये फिल्मी गाने ! अपनी आवाज अचानक उन्हे बड़ी रूखी और कर्कश लगी···गजल प्रोग्राम तो एकदम बन्द हो गया, लेकिन प्रतीक मुह फुलाकर उनके सामने से पैर पटकता हुआ आंधी की तरह गुजर गया···

उसका इस तरह से जाना और आंखों में तिरा तिरस्कारी विद्रोही भाव उन्हें भीतर तक हिला गया···हिला क्या, एकदम छील गया··· वातावरण सूखी रस्सी-सा और तनतना उठा···राम जाने क्या हो गया है सभी को ? अपने सामने ये लोग किसी को कुछ समझते ही नही···उन्होंने अपनी भावनाएं, सारे जीवन की कमाई, अपना पूरा समय इन बच्चों को, इस घर को और अपनी सबकी इज्जत-स्तर बनाने मे खर्च किया···फिर ? फिर क्यों सब कुछ इतना खोखला, बेमानी और बदला-सा लगता है ?

वह आज प्रसिद्ध कम्पनी के चीफ मैनेजर श्री कामता नाथ साहब है···कितने-कितने व्यक्ति उनके मातहत काम करते हैं···उन्हें आदर, सम्मान और प्रशसा देते हैं···यहां के और बाहर के बड़े-बड़े व्यापारी, अफसर तथा अन्य व्यवसायी लोग···समाज के विशिष्ट-प्रतिष्ठित व्यक्ति उनकी जरा-सी कृपा पाने के लिए मिलते हैं, सलाह-सुझाव लेते है··· जरूरत मन्द घन्टो प्रतीक्षा मे खडे रहते है···और···और इधर ये बेटे-बेटियां···? नही, कोई कुछ नही···सब स्वार्थी···घोर खुदगर्जी से भरे हुए···अपनी गर्ज को सांप के केंचुल से लिपटाये,···काम निकला कि छिड़क कर सरक लिए···वह रह गए खड़े···सूखी नदी के अनभीगे तट से ···इन्ही का नाम रिश्ता है। कुछ नहीं, बालुई दरदरे ढूहे हैं···दरारों भरे धरातल में क्यों फंसा रहता है आदमी ! इस मोहपाश मे ? फिर हाथ क्या यही छटपटाहट आती है ?

वह आज तक मूर्ख बनते रहे हैं ! अपनी खुशियां, मनोरंजन, आराम, सुख-चैन, रातो की नींद, फुर्सत का घरेलू माहौल सब कुछ गंवाते रहे··· कड़ी मेहनत, दृढ संकल्प···इरादों के सपने और अच्छे-अच्छे स्तर का जीवन पाने, परिवार को देने के लिए दौड़ते-खटकते रहे···अपनी जमीन खुद मजबूती से बनाने के लिए कितने संघर्ष किए ! खुद गरीबी की कथरी से उठकर अपने पैरों पर खड़े हुए···खुद रास्ते, दिशाएं और मंजिलें तलाशते रहे।

मन में यही इच्छा रही कि जो अभावो की गन्ध उन्होने पहचानी··· जिन अवसरों-सुविधाओं के लिए उन्होंने कठिन सांसें ली हैं···जिस प्रतिष्ठा-पद को प्राप्त करने के लिए उन्हे रात-दिन एक करना पड़ा है···, वह सब उनकी सन्तान के हिस्से न आए···बना-बनाया सुनियोजित जीवन इन्हे मिले···सोचा था, चलो, आज की हांफती दौड़ कल का गौरव और विश्राम बनेगी···स्वाभिमानी गर्व और मानसिक संतुष्टि देगी···बीस जगह सिर उठाकर चलेंगे···पचास मे मान-मर्यादा बढ़ेगी···परन्तु ? चाकू की धार-सी एक सांस आर-पार निकल गई।

उन्होने घडी पर नजर डाली। याद आया···कलक्टर साहब ने चाय पर उन्हे बुलाया था···उदास खयालों को फाड़कर एक तरफ ˝ ˙ की

उन्होंने कोशिश की···कलक्टर साहब कालेज मे साथ पढ़े पुराने साथी रहे हैं···चलें उधर ? खयाल फटे नही ? और तार-तार, धज्जी-धज्जी होकर लिपट गए तब ? छोड़ें ! अब क्या जाएं ? मन के चिकने फर्श से न जाने कब कैसे दबी-ढंकी पीडा फिसल जाए ? उनका अहं क्या यह गवारा कर सकेगा ?

जाने का इरादा एकदम छोड़ दिया···सूट-बूट-टाई समेत यो ही थके-टूटे से पलंग पर तिरछे लेट गए···कनपटियों पर, आंखो पर दोनों हाथ कस लिए···बहुत दिनों बाद···पूरे छह वर्ष के बाद पत्नी सरला की याद आई···उनके होते हुए इतना कहा सोचते थे ? तब सोच या कड़वाहट थी भी कहा ? यह तो इन्ही पांच सालो में घर और बच्चे एकदम बदले हैं···

अच्छा ही रहा कि सरला आराम से विदा हो गई···जिन्दा होती, तब ? वह तो पहले ही बहुत भावुक किस्म की संवेदनशील महिला थी··· इतना बदलाव शायद नही सह पाती···

एक उनीदी खुमारी उनके पूरे वजूद पर छा गई···एक तूफान-सा उनके दिलो-दिमाग में मंडराने लगा . धीर-गम्भीर ठहरे हुए सागर मे तूफान आ गया···बन्द पलकों की पुतलियो में जाने कौन से बीते-भूले दृश्य सजीव-मुखर हो उठे।

बडी सहेजी, तह की कहानी, जो उनके भीतर कही कीमती धरोहर-सी रखी रहती थी, खुल गई···चुपके-चुपके अतीत के पृष्ठ कौन पढ रहा है ? क्या ये उनके पिता ? एक मामूली · निहायत मामूली कारिन्दे न ? सारे दिन घूमते रहते···पद नही···नामपट्ट नही···बस हाथ में एक बस्तानुमा थैला और पैरों में सस्ती चप्पलें-जूतियां···

रात को थक कर चूर घर लौटते · बदहवास चेहरा···रूखे, बे-रौनक बाल···थकान के धक्कों में जमे शब्द··· मां - बासी खाना देती···वही रूखा-सूखा - पर ढेर हो जाते···

जिन्दगी की यही दैनिक-परिक्रमा कभी अच्छा खाते-पीते बढ़िया पहन के मुंह से सुना या

का भारी बोझ उनके कन्धो पर आ गया था। उसी उम्र से पिता को वसीयत में मिले थे तीन भाई और चार बहनें···भाइयों को थोड़ा-बहुत पढ़ाकर काम से लगा दिया था···बहनो के अन्तहीन अभावों के बीच बड़ी कठिनाई से हाथ पीले किए थे···परिणाम रहा कि कर्ज का विशाल पहाड़ उनके सिर पर लद गया था और जीवन हू-हू करता पठार-सा बिछ गया था···शुष्क···रसहीन···

दो गर्म बूंदें चीफ मैनेजर साहब के कानों की लवों तक तैर आईं··· एक शिथिल करवट लेकर फिर विचारों की नीली खाई में कूद पड़े···जाने भाग्य के किस मंगल-सकेत से नैनीताल वाले ताऊजी, जो पिता के बचपन के मित्र थे और लाखों जप-तप-तीर्थ करने पर भी जिन्हे औलाद का सुख प्राप्त नही हुआ था···वह ताऊजी अचानक आए और आते ही अपनी इच्छा प्रकट की। इच्छा थी कि कामता को उन्हें गोद दे दिया जाए··· पिता को क्या विरोध हो सकता था भला···अन्धा चाहे दो आंखें··· हालांकि छाजन हटने से गाड़ी का बोझ हल्का नही होता···फिर भी एक संतान अगर इस अंधे भाड़ से निकल जाए, तो आदमी बनकर क्या पता पूरे घर का ही नरक धो दे!

यही सारा गणित बैठाकर पिता ने उन्हें खुशी-खुशी गोद दे दिया था और वह उन अभावों की कैद से मुक्त होकर नैनीताल आ गए थे···भाग्य आते ही दौड़ने लगा था···अच्छे स्तर के स्कूल-कालेज में शिक्षा···घर का कुलीन-आभिजात वातावरण···अच्छे मित्रों का साथ···बढ़िया खाना और पहनने को वस्त्र···कई कंपीटीशंस···शुरूआत ही हुई ऊंची नौकरी से··· टक्करदार ऊंचे घराने मे हुई शादी···गुदड़ी में पैदा कामता हो गए साहब कामता नाथ जी···लेकिन वह एक दिन को भी अपने गरीब पिता के घर से कट नही पाए थे···बहनों-भाइयों से बराबर जुड़े रहे···

आगे चलकर पहले ताऊजी···फिर चार साल बाद ताईजी ईश्वर को प्रिय हो गए और छोड़ गए अपनी खूब सारी दौलत···नगदी-जेवरात के अलावा बड़े अच्छे ठिकाने पर चलती चार दूकानें और तीन मंजिली हवेली···एक आधुनिक कॉटेज···सभी कुछ ताऊजी ने उन्हीं के नाम करके वसीयत तैयार करा ली थी···

उन्होंने कोशिश की…कलक्टर साहब कालेज में मा रहे हैं…चलें उधर ? ख्याल फटे नहीं ? और ता होकर लिपट गए तब ? छोड़ें ! अब क्या जाएं ? से न जाने कब कैसे दबी-ढंकी पीड़ा फिसल जाए ? गवारा कर सकेगा ?

जाने का इरादा एकदम छोड़ दिया…सूट-बूट-ट टूटे से पलंग पर तिरछे लेट गए…कनपटियों पर, ह कस लिए…बहुत दिनों बाद…पूरे छह वर्ष के बाद आई…उनके होते हुए इतना कहा सोचते थे ? तब भी कहा ? यह तो इन्ही पांच सालो में घर और ब

अच्छा ही रहा कि सरला आराम से विदा हो तब ? वह तो पहले ही बहुत भावुक किस्म की संवे इतना बदलाव शायद नही सह पाती…

एक उनींदी खुमारी उनके पूरे वजूद पर छा उनके दिलो-दिमाग में मंडराने लगा ..धीर-गम्भी तूफान आ गया…बन्द पलकों की पुतलियों में ज दृश्य सजीव-मुखर हो उठे।

बड़ी सहेजी, तह की कहानी, जो उनके भीतर सी रखी रहती थी, खुल गई…चुपके-चुपके अती है ? क्या थे उनके पिता ? एक मामूली · निहायत सारे दिन घूमते रहने…पद नही…नामपट्ट बस्तानुमा थैला और पैरों में सस्ती चप्पलें-जूतियां

रात को थक कर चूर घर लौटते · बदहवास बाल…थकान के धक्कों में जमे शब्द…बीमार बासी खाना देती…वही रूखा-सूखा खाकर ना पर ढेर हो जाते…

जिन्दगी की यही दैनिक-परिक्रमा उनकी कभी अच्छा खाते-पीते और बढ़िया पहनते-ओ के मुंह से सुना था कि सोलह वर्ष की कच्ची-अ

उठाकर पटक दिया था···तपता शीशा था, या ठण्डी बर्फीली धारा थी··· पूरा शरीर जैसे इनमे समा गया था···घाटी मे सिसकती कराह की तरह उनके भीतर से एक आवाज निकली थी—

"और तुम्हारी मदर ? उनका हार्ट ? उनकी हैल्थ ? तबियत ठीक नही रहती उनकी···तुम यह तो जानते हो ?"

बेटा दोनों हथेलिया हवा में फैलाकर बड़ी निश्चित हंसी के साथ बोला—

"क्या डैड ! आप तो अभी से ग्राण्डफादर वाली टोन छोड़ रहे हैं··· ममा की तबियत कैसी चल रही है, मैं जानता हूं—पर डॉक्टर्स, मेडिसिन चलती रहती हैं···कितना कॉस्टली इलाज आप करा रहे है ·· मैं···मैं···क्या करूंगा भला इसमे ! फिर हम लोग होगे तो यही न ? जब मूड हुआ, आ जाया करेंगे···"

जैसे कई छर्रे उनका पूरा सीना घायल करके छितरा गए हो···! वह दीवार की ओर मुह करके खडे हो गए थे···मुह से केवल "ठीक है" कहकर खामोशी की सुरंग मे अकेले रह गए थे···वह हार गए थे···बीनू की जीत हुई थी···बेटा-बहू नए बंगले मे चले गए थे···

बीच वाले बेटे ने कलकत्ते मे शादी कर ली थी···लव-मैरिज··· उनके पास मात्र सूचना आई थी···पढ़कर गूगे भर हो उठे थे···कोई प्रतिक्रिया नही हुई थी···दिल क्यों धडकता ? वहां तो रेगिस्तान···नही हिमखडों के बीच एक ग्लेशियर···ओह नो ! अब उनका दिल पत्थर हो चुका था···पथरीला···ऊबड खाबड़ पहाड़···क्यों घबराता ? लड़कियां अपने-अपने पतियो के साथ विदेशों मे गईं, सरला इतने सारे कड़वे-जहरीले घूंट पचा नही पाई···क्या करती आखिर···चल दी आराम से···

अब इतनी बड़ी महलनुमा कोठी मे नौकरों की फौज है। ये बेजान फर्नीचर, ये बहरे पर्दे और है श्मशानी सन्नाटा···शोर है भी या आवाजों की कतरनें हैं, तो उनमें आत्मीयता, प्यार, सम्मान और रिश्तो की सीमा का अक्स नही है···गरिमा नही है···न किसी की आतुर प्रतीक्षा है न चिंता···बल्कि शब्दों की इन कतरनों में एक बेहूदापन है···दूसरों को तिरस्कृत—अवहेलित करने की एक अमर्यादित झोंक है···अक्खड़पन की

अब उनका खुद का भी परिवार बढने लगा था···तीन लड़के और दो लडकियां···अपनी हैसियत के अनुसार सभी बच्चों को ऊंची तालीम के लिए इधर-उधर भेजा···जो भी बच्चों ने चाहा, जहां भी होस्टल मे रह कर पढना चाहा, वही किया गया···वक्त आने पर बड़ी धूमधाम से पढी-लिखी लडकियां देखकर बेटो की शादियां कीं···विदेश में पढ़े जंवाई ढूढ़े···

औलाद पर पानी की तरह पैसा बहाया···रहा है अनब्याहा केवल यह प्रतीक, जिसके लिए बडे शानदार-जानदार रिश्ते टूटे पड़ रहे है··· हालांकि सभी कुछ मशीन की तरह होता रहा···आधुनिक कोठी··· बगीचा·· कार-जीप···सभी बच्चों के पास मोटर साईकिलें···आधुनिक उपकरणों-फर्नीचरों से भरा घर···सब मिला···खुद भी तो मशीन होकर रहे···

सारी सुख-सुविधाएं पाकर भी उनका मन कभी भी खुश नही हो सका···सन्तुष्टि का कण भी उनकी मानसिकता को छू नही पाया···कैसे होते खुश या सन्तुष्ट ? नही हो सकते थे···बडा बेटा शादी होते ही बोला था—

"डैड ! इफ यू डॉण्ट माइण्ड···यह बीनू है न ! एक बंगला खरीदना चाहती है···"

वह बीच मे ही हैरान होकर बोल पड़े थे···

"क्या ! और ये कोठी ! वह बगला ! उधर हवेली ! अभी शादी की है तुमने···अलग बंगले की क्या जरूरत है···। अपना बंगला ब्ल्यू-वेव है न ! उसमें चले जाओ, अगर अलग ही शिफ्ट करना है तो···क्यों ?"

बेटे ने बड़े नखरे से कन्धे झटक कर एक लापरवाह वाक्य उछाला—

"ऑफ कोर्स डैड···लेकिन···बात यह है कि···मतलब, माना कि ···जो कोठी, हवेली, बंगला हमने देखा है न । क्या है ! वण्डरफुल···सो ब्यूट···वण्डरफुल···बीनू उसे लेने के लिए जिद कर रही है···आप भी उसे देखेंगे, तो लाइक करेंगे···"

उनके कानों में एक भी शब्द नही जा रहा था···आंखें बेटे के हाव-भाव भी नही देख पा रही थी···एक गहरे गर्म सोते मे जैसे किसी ने उन्हें

उठाकर पटक दिया था···तपता शीशा था, या ठण्डी बर्फीली धारा थी··· पूरा शरीर जैसे इनमें समा गया था···घाटी मे सिसकती कराह की तरह उनके भीतर से एक आवाज निकली थी—

"और तुम्हारी मदर ? उनका हार्ट ? उनकी हैल्थ ? तबियत ठीक नही रहती उनकी···तुम यह तो जानते हो ?"

बेटा दोनों हथेलियां हवा में फैलाकर बड़ी निश्चित हंसी के साथ बोला—

"क्या डैड ! आप तो अभी से ग्राण्डफादर वाली टोन छोड़ रहे है··· ममा की तबियत कैसी चल रही है, मैं जानता हूं—पर डॉक्टर्स, मेडिसिन चलती रहती हैं···कितना कॉस्टली इलाज आप करा रहे हैं ·· मैं···मैं···क्या करूंगा भला इसमें ! फिर हम लोग होंगे तो यही न ? जब मूड हुआ, आ जाया करेंगे···"

जैसे कई छर्रे उनका पूरा सीना घायल करके छितरा गए हों···! वह दीवार की ओर मुह करके खड़े हो गए थे···मुह से केवल "ठीक है" कहकर खामोशी की सुरंग मे अकेले रह गए थे···वह हार गए थे···बीनू की जीत हुई थी···बेटा-बहू नए बगले मे चले गए थे···

बीच वाले बेटे ने कलकत्ते में शादी कर ली थी···लव-मैरिज··· उनके पास मात्र सूचना आई थी···पढ़कर गूंगे भर हो उठे थे···कोई प्रतिक्रिया नही हुई थी···दिल क्यों धड़कता ? वहां तो रेगिस्तान···नही हिम-खंडों के बीच एक ग्लेशियर···ओह नो ! अब उनका दिल पत्थर हो चुका था···पथरीला···ऊबड़ खाबड़ पहाड़···क्यों घबराता ? लड़कियां अपने-अपने पतियों के साथ विदेशों मे गई, सरला इतने सारे कड़वे-जहरीले घूट पचा नही पाई···क्या करती आखिर···चल दी आराम से···

अब इतनी बड़ी महलनुमा कोठी में नौकरों की फौज है। ये बेजान फर्नीचर, ये बहरे पर्दे और है श्मशानी सन्नाटा···शोर है भी या आवाजों की कतरनें हैं, तो उनमे आत्मीयता, प्यार, सम्मान और रिश्तों की सीमा का अहम नहीं है···गरिमा नही है···न किसी की आतुर प्रतीक्षा है न मिता···बल्कि शब्दों की इन कतरनों मे एक बेहूदापन है···दूसरों को तिरस्कृत—अपहेलित करने की एक अमर्यादित सोंक है···अक्खड़पन की

हर ओर चुभन है'''तभी तो घर की हवा दिन पर दिन भारी होती गई'''
आज भी हो रही है'''

नौकरों की फौज का क्या मतलब रहा ? केवल इस नाम का एक भरम ? इस भीड़ में अपना कहीं कहने को इंगित संकेत है, तो यह प्रतीक हा यह प्रतीक'''और यह प्रतीक भी क्या है ? सातवें आसमान पर दिमाग रखकर चलने वाला एक संबोधन'''टीस देने वाला एक नाम'''टीस ? कब नहीं इन लोगों ने दी ?

पहले दुःख-सुख बतियाने-बांटने को सरला थी'''उनकी सदा आदत रही कि उनके सारे भाईयों-बहनों को बुलाती रहती थी'''ये लोग गरीब हैं या यों ही मामूली नौकरियों पर है, इसकी उन्होंने न कभी चर्चा की, न कभी उन लोगों को महसूस होने देती थी'''

अप्रत्यक्ष रूप से उनकी मंशा रहती थी कि सभी यहां सुख से चार दिन रह जाएं'''वर्ष भर के कपड़े बनवा ले जाए'''कुछ आर्थिक सहायता भी मिल जाए। इसीलिए बारी-बारी से बुलाती रहती थी'''अच्छी तरह विदा करती थी। छोटे भाई के और दो बहनों के बच्चों को यहां रखा कि ये लोग खूब पढ़ लें और अपने रसूखों से इन्हें अच्छी जगह दिलवा दी जाए''' लेकिन इन बच्चों ने उन बच्चों का कितना अपमान किया था? कभी ताऊ'''चाचा'''बुआओं की इज्जत नहीं की, तब उनके बच्चों की कैसे करते? बात-बात में यह औलाद उन सीधे-सरल बच्चों की खिल्ली उड़ाती-चिढ़ाती-फटकारती'''ऐसी बोलियों से उन्हें छेदा कि एक-एक करके यहां से उनके भांजे-भतीजे आखिर चले ही गए'''इतने धन-ऐश्वर्य के मालिक वह'''वह कामता नाथ साहब कितने अपमानित हुए अपने मन में ! कैसी घोर लज्जा में उनका मानस डूब उठा था''',जब वह झुंझलाकर बच्चों से कह देते थे'''

"कुछ तो तुम लोगों को शर्म आनी चाहिए'''कैसा बिहेव करते हो इनके साथ ! यही तुम पढ़ते हो ? कोई कल्चर नहीं है तुम्हारे अन्दर ! क्या सोचेंगे ये सब !"

परन्तु वह देखा करते थे कि इसका प्रभाव यह होता था कि इन लोगों की उद्दण्डता और बढ़ जाती थी'''कभी वह बड़े उत्साह से कहते—

"देखो, कभी-कभी रिश्तेदारों के यहां जाना···मिलना चाहिए···आपसी प्रेमभाव बढ़ता है···ताऊजी के हो आओ···उनके लड़के अब तो अच्छी सर्विस पा रहे हैं···बिचली बूआ का बड़ा मन है तुम लोगों को बुलाने का···इस विन्टर में बूआ के यहां का और समर में ताऊजी के यहां जाने का प्रोग्राम कैसा रहेगा···?"

बच्चे समवेत स्वर में टिनटिनाते···

"ओ हो डैड ! खाली किताबें रटने से, एक्ज़ाम देने से ही तो [illegible] आ नहीं जाते···हमें तो ताऊजी के यहां, अंकल-आण्टी के यहां जाना अच्छा नहीं लगता···और दोनों बुआजी···गांव [illegible] और···हम उधर फिट नहीं कर पाते खुद को···इधर भी जब ये लोग आ जाते हैं, तो हमें बड़ा अटपटा लगता है···शर्म भी आती है···हमारे फ्रेण्ड्स के बीच श्यामू, बिरजू, प्रकाश और वीरेन्द्र भाई जरा भी जम नहीं पाते हैं···यही बबली की शिकायत है···क्यों बबली ?"

और इठलाकर बबली स्वीकृति में गर्दन हिला देती थी···[illegible] पीसकर रह जाते थे···ऊपर की इमारत पर [illegible] साहब, लेकिन भीतर का खण्डहर ऐसा ही [illegible] ढहता रहता था···खोखले पंजर में दर्द की [illegible] रहती थी···

···वाह ! खुद में हमारी औलाद रही एकदम अनकल्चर्ड···

बेचारी बहन कितनी उदास और दुःखी हो गई थी···! हीनता की भावना से ग्रसित होकर या परायेपन की ठोकर खाकर अथवा अपमानित इल्लत-जिल्लत पाकर सभी धीरे-धीरे सिमटते-छिटकते गए उनसे···और वह चुपचाप छटपटाते रहे कटे-घायल पखेरू से···करते भी क्या ? अपनी ही औलाद के सामने खामोश-अवसन्न से रह गए थे···भय से नहीं, वरन अपनी इज्जत, मर्यादा की सुरक्षा के लिए·· भाई-बहनों के पास क्या मुंह लेकर जाते ! क्या सफाई सात्वना देते ? रूखी बातें कब तक हारे-कुचले दिलो की मरम्मत कर पाती हैं ? वह अपनी ही धरती से चाक-चाक फटते-कटते चले गए···अकेले···निपट अकेले रह गए।

अब पूरे तीन वर्ष के बाद बडी कठिनाई से बहन को, उनके बच्चों को मनाकर लाए थे···बच्चों की लम्बी छुट्टियां अपने यहां बिताने के लिए···खुश थे कि एक-डेढ़ महीना यह सुन्न-सन्नाट पडी कोठी हंसी की खनखनाहटों से और आवाजों के सुरताल से गुलजार हो उठेगी···कैसा भरा-भरा हो उठेगा घर ! वह भी खूब बतिया लेंगे···

बरसों बीत गए, खुलकर हंसे नहीं···अब हंसकर-अट्टहास करके देखेंगे···अच्छा वक्त कटेगा···लेकिन बडी लड़की ने और बिचली बहू ने टिकने नहीं दिया बहन को···बच्चो को··· जान-बूझकर बडी को बहू ने ससुराल से बुलवाया···ननद-भावज ने जली-कटी बातें सुना-सुनाकर बहन को रूआंसा कर डाला···

कैसी गंदी हरकतें थी ! अपने पिता और ससुर के कुटुम्ब पर हंसना···पिता ··, जो घर का मालिक है ··, जिसके ऊपर सभी सुख—पालकियो में विचरण करते रहे···उस पिता की बहन का निरादर करना···उनके बच्चों की शक्लो, पहरावों, आदतों, व्यवहारो को चीरना···कटु आलोचना करना···उनके सामने अपनी प्रशंसाओं के पुल बांधना···खिलाने-पिलाने में भेदभाव···सौतेला व्यवहार···इधर-उधर कोनों में बुराइयां करना···नौकरों को बहला-फुसलाकर, डरा-धमका कर इन लोगों का काम न करने देना···जाने क्या-क्या गंदे तरीके अपनाए गए···घर के मालिक की नजर इनके प्रति कैसे मैली की जाए, इसके लिए छल-

असली ढांचा बिखर गया···सब उच्छृंखल हो उठे···अपने-अपने मे आजाद ···ये बच्चे, जो इनके लिए पराए थे···सभी की आंखो मे करकने लगे··· नौकर से भी बदतर बना डाल गए···पढाई-स्कूल तो एक ओर रह गया··· सारा-सारा दिन उन पर हुक्म उछलते रहते थे···जूतों पर पालिश ···कपड़ों पर प्रेस···यह लाओ···वहां जाओ···बीच-बीच में स्टूपिड··· फुलिश···गंवार···बेवकूफ शब्दो के संबोधन···तू-तड़ाक अलग···हुक्म··· फटकारें···दिल्लगी···दूसरो के सामने जाहिल बनाकर अपमान किया जाता···आखिर बच्चे ही तो थे···! दुखी होकर, उनके सामने मौन रुदन के साथ अपने मन की टीस रखकर सभी चले गए···कितना दुखाया था उन निर्दोष बच्चों का मन इन लोगों ने ?

ऐसे खूंख्वार जानवर बनाने के लिए ही उन्होने अच्छे-अच्छे और महंगे स्कूलो मे पढाया था ? शिक्षा का स्तर क्या इसी प्रकार मानवता, शालीनता, भद्रता और व्यावहारिकता के स्थान पर बालको को जानवर बनाता है ! रिश्तों के प्रति ईर्ष्या-हिंसा और अशिष्टता बोता है ? बडों को नमस्कार करना, सेवा-भाव, संबंधों के लिए शिष्ट-मधुर भावों से विभोर रहना कहा गया ? शिक्षा के मूल्य क्या माता-पिता कुटुम्बीजनों को यही अलगाव देते हैं ? चलो, वह तो ऊंचे स्तर और पैसे वाले हैं···दर्द को अकेलेपन को काटने-बांटने के लिए कई साधन जुटा लेंगे···लेकिन जो चमकदार सपने पालकर···खुद दु:खी रहकर···पेट काटकर बच्चों को पढाते हैं···अफसर बनाने का, बना देखने का ख्वाब पालते है···वही बच्चे इन माता-पिता को आगे चलकर अपने सर्किल मे लाने-ले जाने मे हिचकते है, तब इन माता-पिता पर क्या गुजरती है ?

कॉलेज-यूनिवर्सिटी की शिक्षा क्या दे रही है ? अनुशासनहीनता··· विद्रोह-हताशा···बेरोजगारी···तोड़फोड़···आत्महत्या ? युवामन को एक बौखलाहट भरा व्यक्तित्व ! ओह ! कहां-से-कहां तक इस सोच यात्रा मे वह भटक गए हैं कई-कई बार···खाली शिक्षा ही क्या ? बहुत खामियां हैं और भी···पूरी व्यवस्था ही दोषी है शायद··· घर, समाज, शिक्षा··· सबकी साजिश है···सजा भुगतते हैं और लोग···तराजू मे तुल रहे हैं रिश्ते आज···स्वार्थ परक दृष्टि रह गई है···बात-बात मे कई सी-एटीकेट

…वाह ! खुद में हमारी औलाद रही एकदम अनकल्चर्ड…

बेचारी बहन कितनी उदास और दुःखी हो गई थी…! हीनता की भावना से ग्रसित होकर या परायेपन की ठोकर खाकर अथवा अपमानित इल्लत-जिल्लत पाकर सभी धीरे-धीरे सिमटते-छिटकते गए उनसे…और वह चुपचाप छटपटाते रहे कटे-घायल पखेरू से…करते भी क्या ? अपनी ही औलाद के सामने खामोश-अवसन्न से रह गए थे…भय से नहीं, वरन अपनी इज्जत, मर्यादा की सुरक्षा के लिए… भाई-बहनों के पास क्या मुह लेकर जाते ! क्या सफाई सांत्वना देते ? रूखी बातें कब तक हारे-कुचले दिलों की मरम्मत कर पाती है ? वह अपनी ही धरती से चाक-चाक फटते-कटते चले गए…अकेले…निपट अकेले रह गए।

अब पूरे तीन वर्ष के बाद बड़ी कठिनाई से बहन को, उनके बच्चों को मनाकर लाए थे…बच्चों की लम्बी छुट्टियां अपने यहां बिताने के लिए…खुश थे कि एक-डेढ़ महीना यह सुन्न-सन्नाटा पड़ी कोठी हंसी की खनखनाहटों से और आवाजों के सुरताल से गुलजार हो उठेगी…कैसा भरा-भरा हो उठेगा घर ! वह भी खूब बतिया लेंगे…

बरसों बीत गए, खुलकर हंसे नहीं…अब हंसकर-अट्टहास करके देखेंगे …अच्छा वक्त कटेगा…लेकिन बड़ी लड़की ने और बिफरती बहू ने टिकने नहीं दिया बहन को…बच्चों को… जान-बूझकर बड़ी को बहू ने ससुराल से बुलवाया…ननद-भावज ने जली-कटी बातें सुना-सुनाकर बहन को रूआंसा कर डाला…

कैसी गंदी हरकतें थी ! अपने पिता और ससुर के कुटुम्ब पर हंसना…पिता…, जो घर का मालिक है…, जिसके ऊपर सभी सुख—पालकियों में विचरण करते रहे…उस पिता की बहन का निरादर करना …उनके बच्चों की शक्लों, पहरावों, आदतों, व्यवहारों को चीरना…कटु आलोचना करना…उनके सामने अपनी प्रशंसाओं के पुल बांधना… खिलाने-पिलाने में भेदभाव…सौतेला व्यवहार…इधर-उधर कोनों में बुराइयां करना…नौकरों को बहला-फुसलाकर, डरा-धमका कर इन लोगों का काम न करने देना…जाने क्या-क्या गंदे तरीके अपनाए गए… घर के मालिक की नजर इनके प्रति कैसे मैली की जाए, इसके लिए छल-

कपट होते रहे···

एक दिन यह गजब भी इन्होंने करके दिखा दिया कि बहन ने बहू के बुंदे चुरा लिए हैं···बहन का बडा लड़का रीकू का पेन्ट पहन लेता है··· चलो टूटा फिर कहर···बहन का बुरा हाल···घर क्लेश का और अपमान पीड़ा का जब अखाड़ा बन गया, तब बहन अपने बच्चों को लेकर रोती-कलपती चली गई···बहन को बेइज्जत करके घर से निकालकर बेटी गई अपनी ससुराल···बहू गई मायके···वह रह गए फिर अकेले···मन की सुलगती गर्म आग में भुनते हुए···इस बार खण्डहर बहुत गिरा··· बहुत झरा···प्राण हा-हाकार कर उठे थे···

क्या किया उन्होंने किसी का भला? उसी घर में पैदा हुए···इन्हीं भाई-बहनों के साथ खाया-पीया···साथ खेले-रहे···दे पाए इन भाइयों को अच्छी शिक्षा? ऊंचे पद? कर पाए बहनों की सुखी परिवारों में शादी? क्या की सहायता? क्या आदर-प्रतिष्ठा दिलाई उस गरीब पिता के घर को?

अपना भविष्य भी शीशे की तरह साफ दीख रहा है···एकदम पार-दर्शी···कितने दिन हैं? दो-तीन वर्ष में रिटायर···फिर? यह अकेलापन खा नहीं जाएगा! क्या बहन-भाइयों के कुटुम्ब में लौट सकेंगे? क्या सभी नहीं कहेंगे कि अपने छोड़ दुतकार गए, तो आए हैं इधर! हमने कैसे दुःखों से कुनबे पाटे हैं···रूखे-सूखे अंकुरों को कैसे बढ़ती जवान-पौध तक खींचकर लाए हैं ''तब कहां थे? अफसरी की कुर्सी से उतरते ही क्या अब गरीब लोग याद आ गए एकाएक?

किस-किस को बताएंगे! कौन विश्वास करेगा कि आलीशान कोठी के भीतर रहने वाला आलीशान यह अफसर हर पल तिल-तिल कर घुटा है···सुलगा है···क्या कहेंगे भाइयों से? कैसे खड़े होंगे बहनों के सामने? बच्चे उनके क्यों देंगे आदर-मान? काश! वह भी नैनीताल वाले ताऊजी की तरह निःसन्तान रह जाते! या उनके जैसा ही एक और कायता नाथ इस घर में पैदा हो जाता?

याद आया कि महीने भर पहले जब वह लम्बी सड़क से गुजर रहे थे, तो मुनीमजी का घर उधर ही होने पर यों ही उनके दरवाजे पर गाड़ी

रोक दी थी···बिना आवाज दिए जा पहुंचे थे उनके आंगन में···देखा कि दरी बिछी थी नीचे·· सब बैठे हंस-बतिया रहे थे···साथ मिलकर मामूली खाना खा रहे थे ··

छोटे से खरबूजे की फांक···अचार-रोटी···चमकते लोटे-गिलास और हंसी-खुशी से दमकते सभी चेहरे···बूढ़ी मां···विधवा चाची···बहन-बच्चे सभी चहक रहे थे···जीरो वाट का बल्ब···उनकी आंखें जुड़ा गईं··· पेट में हूक-सी उठी···गले में कोई गोला सा घूमा···कैसा स्वर्ग है यहां? दरी-बोरी, खाट···मूढ़े···और यह हरा-भरा घर···!

जैसे ही मुनीमजी की दृष्टि उन पर गई कि सभी हड़बड़ा उठे ··अरे साहब! धन्य भाग्य! कहां बैठाए! क्या करें! एक अजीब-सी खुशी-उत्साह में घर, वहां के निवासी तरंगित हो उठे थे···अचार से रोटी खाए···! खरबूजे की फांक का मिठास लें·· ! खूब हंसें···किस्से सुनाकर सभी को हंसाए···, लेकिन कामता नाथ साहब की मर्यादा? सूरज बहुत पिघल उठा था आज···गर्म सोता आंखों से उबल पड़ा···कमरे में जैसे हवा सिसक रही थी। कहीं से कोई बचपन की छाया उनके आसपास चंचल हो उठी थी···यह कैसा अहसास था? कैसा सुकून था भला?

महकता चन्दनवन

अभी पूरी तरह से पौ भी नहीं फटी थी कि नल टप, टप, टप, टप,—इतनी जल्दी आ गया'''! उसने अलसा कर करवट बदली। मन नहीं किया उठने को। सुबह की खुनकभरी खुमारी की बात ही कुछ और है''' लेकिन नल से पानी की बूंदें बराबर टपकने लगी थीं। लीला ने करवट बदल कर घड़ी तकिये के नीचे से निकाल कर समय देखा'''ओफ, कितनी जल्दी पांच बज गए थे'''! वह सोचने लगी कि आज वह कुछ देर से तो नहीं जागी थी! सिर बहुत भारी हो रहा था। बांई आंख में दर्द था''' लेकिन हुआ करे! सुबह का काम तो उसे ही करना होगा। उसे लगा जैसे नल भी आज जल्दी आ गया था। बर्तनों का पूरा ढेर पड़ा था।

उसने एक नजर बराबर के पलंग पर सोए अपने पति प्रकाश पर डाली। सुबह की गुलाबी नींद के नशे में वह आकण्ठ डूबा पड़ा था। सुवासित बालों का एक गुच्छा उसके माथे पर थिरक रहा था। उसके मन में आया कि अपने हाथ से उस चंचल हठीले गुच्छे को छू ले।'''पर कैसे? नींद खुलने पर और उसे ऐसा करते देख क्या वह झुंझला नहीं उठेगा? हो सकता है झटके से उठकर भीतर पलंग पर जा लेटे। तब'''? अपने ही पति से इस दूरी का ख्याल करते ही लीला का सांवला चेहरा और गाढी लज्जा से भीग गया। वह बिना आहट किए चुपचाप उठी। बिस्तर लपेट कर अंदर तिपाई पर रख दिया और सामने के आले में भगवान की मूर्ति के सामने सिर झुका कर जाने क्या याचना की कि उसकी आंखें भर आईं। साड़ी का पल्ला मुंह पर खींच वह नीचे चौक में बिखरा काम समेटने उतर गई।

जहां तक बनता है वह रात को ही पूरा चौका साफ करके सोती है'''पर कल शाम को चार बजे वाली गाड़ी से अचानक उसकी बड़ी

ननद पार्वती बाल-बच्चों और पति के साथ आ गई थी। वह पास के ही गांव मे ब्याही थी, क्यों कि बेटी शहर की थी, इसलिए उनके नाज-नखरे अभी तक नही बदले थे।

कल जैसे ही वह कुटुम्ब सहित तांगे से उतरी कि बस चाय-नाश्ते और खाने-पीने का शोर मच गया। कई नई चीजे बनी···अकेले लीला ने मर-पड कर रात के बारह बजे तक सब कुछ तैयार किया। करती भी क्या ? ननद तो रसोई में झांकने मे रही। मां-बेटी की बातों का कोई अन्त ही नही आ रहा था···बच्चों ने पूरा भूकम्प मचा रखा था ··फिर कल पहला ही दिन था मेहमानी का। सास भला बहू के सामने काम करेगी ? छि छि.,···चार आदमी सुनेंगे तो क्या जन्म मे थूकेंगे बहू के !

घर में एक हस्ती और थी। वह थी जेठ जी की लाडली सिर चढ़ी लड़की मीना। मां के मरने पर मीना चाचाजी के पास ही रही···उसी लाड़-प्यार और नखरीली ठसकेदार आदतो के साथ। नाजुक इतनी कि चौके मे लीला के साथ कभी आ बैठती तो उसका सिर चकराने लगता···आंखें उबल उठती। किसी नई चीज को बनाने का मन आ भी गया तो सास की मीठी झिडकी सुनाई देती—

"मिन्नी ! कितनी बार कहा कि तुम अपनी पढ़ाई मे ध्यान दिया करो, वहां चूल्हे-धुए में आखें फोड़ोगी क्या ? उठो वहां से।"

"ओह आण्ट, आप तो कभी एडवेंचर भी नहीं करने देती···" वह बड़ी इतरा कर नकियाती···

"अरी जाने क्या गिटपिट बोले है···मरी एकदम अंगरेजनी है···"

सास जी की आखो मे तरबूजी शरबत भर जाता।

रात को खाना बनाते-खिलाते समय बारह से ऊपर हो गया था। उसकी कमर टूटी जा रही थी। खडे-खडे पैर सुन्न हो गए थे···सिर में चक्कर आ रहे थे। दाल-सब्जी खत्म हो चुकी थी। थोड़ी चटनी और आलू का रेशा बचा था···उसी के सहारे पानी पीकर दो-चार कौर पेट मे डाल चौका यों ही बिखरा छोड वह ऊपर कमरे में आ गई थी। शरीर की पोर-पोर दुख रही थी। ऊपर आकर कमरे में जैसे ही बैठी कि प्रकाश ने कहा—

"बड़ी देर कर दी'''लो, जरा तलवे सहला दो'''आग सी निकल रही है'''मुझे नींद आ जाए तो धीरे से हट जाना।"

"जरा रुकिए, सिर मे दर्द के भंवर-से उठ रहे हैं'''"

"मैं जानता हूं'''जब भी कोई मेहमान आ जाता है, तब तुम्हारे ऊपर सौ तरह के रोग टूट पड़ते हैं'''"

यह सुनकर उसके मन मे आया कि वह अपना सिर दीवार से मार कर फोड़ डाले। क्या यह आदमी जीवन-साथी कहलाने योग्य है ! पत्नी हारी-थकी अकेली काम मे पिसती आधी रात के बाद चूर-चूर हुई आई है'''क्या उसके लिए दो शब्द प्यार या सहानुभूति के इस व्यक्ति के पास नही हैं ? उसके काम व धैर्य की प्रशंसा की जाती तो उसकी दिन भर की सारी थकान न उतर जाती ! उसका मन कड़वा हो उठा'''फिर भी कटु-वातावरण को वह चुपचाप सदैव की भांति पी गई। और दर्द-दुख मे ओठ भींचे फर्श पर बैठकर उस पतिनुमा प्राणी के तलवे सहलाने लगी।

हाथ चल रहे थे। शरीर का एक-एक पुर्जा बिखरा जा रहा था, लेकिन दिमाग जैसे बहुत दूर कुछ खोजने मे भटक रहा था। उसे याद आया कि कल की सी जैसे बात हो, जब वह आशाओं के सपने लेकर उमंगों की डोली में बैठकर इस घर के दरवाजे पर गुलाबी पैरों से उतरी थी। उमगभरी लालसा से उसने पहली बार घूंघट में से पति के मुख की ओर देखा था। उसे क्या पता था कि इतने कोमल चेहरे की रेखाएं कठोर पत्थरों के कसाव से भरी निकलेंगी ! डोली की रेशमी झालर के भीतर जो आज राजरानी बनाकर लाया है, वह कल उसे उपेक्षित कर सकता है !

डोली से बाहर जब वह ससुराल की देहरी पर आई तो दोनो ननदो ने उसका रास्ता रोका। एक यही सगी बड़ी ननद और एक यही मीना—सास जी की सिरचढी गुमानभरी लाड़ली मीना।

भाई से देहरी उलाघने का मीठा नेग मांगा गया। भाई ने रुपये दिल खोल कर दिए। तभी इस लाड़ली वाचाल मीना ने भाई का हाथ उसके हाथ से मिलाकर हंसी की थी—

"खूब भाई साहब ! दिन-रात की जोड़ी बढ़िया रहेगी'''"

"कैसी दिन-रात ! समझा नहीं मैं और यह हाथ मिलाई वाला क्या टोटका कर गई शैतान !" भाई ने दुलार कर पूछा था···

"अरे वाह ! जैसे बड़े भोले हो ! दिन-रात नहीं समझते ! भाई मेरा चांद और भाभी रही अमावस·· मिली न जोड़ी जोरदार ?"

कैसा मर्मान्तक मजाक था ? जैसे किसी को शीतल निर्झर के पास से खीच कर खौलते दरिया में पटक दिया जाए··· । ऐसा ही कुछ उस क्षण उसे लगा था···वह दुर्लभ अवसर क्या ऐसे फूहड़ मजाक का था ? फिर यह मजाक था भी कहां ! गर्म सलाखों से दागना भर था···सपनों का दर्पण घर की देहरी पर ही जो उस दिन गिर कर चूर-चूर हुआ था, आज तक उसकी किर्चें उसे टीसती रहती है ।

दूसरे दिन बहू मुंह दिखावे का बुलावा था । गर्मी कुछ अधिक थी । उसने आसपास जब किसी को न पाया तो थोड़ा घूघट ऊपर उठाकर झिझकभरी दृष्टि से इधर-उधर देखना आरंभ किया ही था कि पीछे से सास की खनखनाती आवाज आई···

"अरे बहू ! कुछ तो शर्म-हया करो । अब तुम ससुराल में हो । आते ही चकई-सी आंखे घुमाने लगी तो कल को बादल फाड़ थेगड़ी लगाने में क्या कसर रखोगी ! पर्दा तो कर लो···वैसे ही ऐसा परियों जैसा रूप तो लेकर आई नही हो, जो आते ही नुमायश खोल बैठ गई ।"

उसने कैसे जल्दी से साडी का पल्ला खीच लिया था ! कलेजा धुक-धुक कर उठा था । मोना ननद का मजाक बैताल बन कर नाच रहा था··· दीवारो, कमरों और हरएक के सिर पर···आंखो मे खारे दलदल गहरा उठे···

औरतो के झुंड देखने आने लगे थे । वैसे एक-दूसरी की आंखों में इशारों की डोरियां खिच रही थीं और ओंठ बिचक रहे थे । वह समझ गई थी कि उसके सांवले रंग और साधारण नाक-नक्शे को देखकर ही यह सारी हचलच थी । पर वह क्या करती ? इन सबने खूब देखभाल कर ही तो अपनाया था । इस बर्ताव से भला पराई और अनजान लड़की को नये घर में सहारा मिल सकता है ! कंवारे सपने दिन-दहाड़े लुट गए थे और मन के सारे कोने अंधेरी घाटियों की नीली दरारों में ढह गए थे ।

कानों में रह-रह कर गर्म शीशा पिघल रहा था···

"क्यों जी परकाश की अम्मा, बहू का दहेज किस खजाने में बंद करके रख दिया है ! हवा तो लगा दो थोड़ी ··" पैने दांतों की मशीन का चक्का फिर घरघराया था···

"तुम भी कैसी अनकटौटी बात करती हो मौसी जी ! खजाना तो तब जमाऊं, जब ईंट-पत्थर आए हों ? जो टूटे-फूटे चार बर्तन और सड़े-बुसे चीथड़े आए हैं सो धरे हैं आपके सामने···"

धीमे-धीमे अंगार सुलगे थे—

"तो बहू तो चांद की किरन लाती ? गाड़ी-भर दहेज या परी-सी बहू ···कुछ तो हो ?"

मन का शीशमहल फिर हिल उठा था···

नल का पानी बाल्टी से बाहर बहने लगा था। उसकी विचारधारा टूट गई। उसने बर्तन धोने शुरू कर दिए। हल्की-सी हरारत में पानी हाथों को और भी ठंडा लग रहा था। शरीर में भी टूटन भरी झुरझुरी उठ रही थी। चूड़ियां चढ़ाती हुई बोली तभी सासजी पीछे से आकर···

"हाय परमेश्वर ! कमाल करती हो तुम भी बहू ! रात का काम अब करने बैठी हो ! दस मिनट का कुल काम था जिसे दो घंटे से रगड़ रही हो। कब से प्रकाश जगा बैठा है। अरे कब काम हुआ, कब चाय खौली ? आलस की भी हद है। रात को सांझ पड़े सो जाना, सुबह सूरज निकले उठना। अब मुर्दापन क्या दिखा रही हो, जल्दी खतम कर पत्तियां उबालो चाय की···मैं कहां-कहा आंखें पसारूं · ।"

देर तक वह उनकी बड़बड़ाहट बड़े कमरे में सुनती रही। उसके हाथ बिजली की फुर्ती से चल पड़े···साथ ही विचारों की कड़ी भी ··कितना झूठ बोलती हैं ! रात के ग्यारह-बारह बजे को ये सांझ पड़े सोना समझती हैं और सुबह चार-पाच बजे उठने को सूरज निकले उठना कहती है ! पर उसे तो चुप रहकर सब कुछ सहन करना है।

उसके सोचने का प्रवाह फिर एक साल पहले अपनी शादी के बिंदु पर आकर रुक गया। एक-एक दृश्य फिर साकार हो उठा। उस दिन सास की झिड़की सुनकर और ननदों के मजाक सह कर भी उसे कुछ आशा थी

अपने जीवन-धन पति से…लेकिन रात के प्रथम-मिलन मे वह आशा चूर-चूर हो गई थी।…जब प्रकाश ने बड़े रूखेपन से कहा था…

"देखो, इस घर मे तुम्हे यहां के अनुसार चलना पड़ेगा। मां, मीना, बडी जीजी व बाबूजी की आज्ञा मे चलकर रहना है। मैं कोई भी शिकायत सुनने का आदी नही हूं। पर्दे का ख्याल रखना है। कल को कोई नामोशी आई, तो मेरे बर्दाश्त से बाहर होगी…"

"आप बात को गलत ले रहे हैं शायद…अभी तो आरंभ ही…"

"नही, उल्टा-सीधा लेना-करना इस घर का अभ्यास नही है…मैं जो भी कह रहा हूं, वही कहना भी चाहता हूं…आरंभ हो या अंत…" गुलाबी क्षण नादिरशाही हो उठे थे…

उसी उपेक्षित भाव में डूबी वह रंगीन-कल्पित रात कब गुजर गई थी, यह तो आज भी याद नही आता! चार-पाच दिन बाद इधर-उधर से उडती हवा उसके कानों में डाल गई कि प्रकाश को अपनी बहू पसंद नहीं आई है। वह हर तरह से अपनी उपेक्षा समझ चुकी थी अब…

रूप-रंग के बाद घर की चर्चा का विषय बना रहता था उसके पिता का दिया नया दहेज। मामूली क्लर्क, तीन लड़कियों का पिता, दो लड़कों की पढाई को ढोने वाला, महगाई से जूझने वाला उसका पिता भला और दे भी क्या सकता था! घडी, साइकिल, रेडियो, पलंग, बर्तन और कपडे। इन पर लिया गया कमरतोड कर्ज। पिता की चिंता से झुकी आंखें…पर इस घर मे दीनता व प्यार से भेंट किया गया वह सामान कबाड़ी का कूडा कहकर सम्मानित किया गया था।

प्रकाश ने न घड़ी छुई थी, न साइकिल। मीना ने रेडियो को दियासलाई की डिबिया कहकर घर के बडे फिलिप्स रेडियो के पीछे पटक दिया था। साइकिल तो किसी ने देखना भी गवारा नही की थी। कपड़े गवारूं कह कर बडे संदूक मे 'लेने-देने के काम आ जाएंगे' समझकर बद कर दिए थे। उस दिन से आज तक की उसकी मूक, अविरल सेवाएं किसी के दिल मे सुई की नोंक के बराबर भी दया पैदा नही कर पाई थी।

जल्दी काम करने पर भी दुपहर दो बजे छुटकारा मिला। वह ऊपर अपने कमरे मे आ गई। यही कमरा, दीवारे उसकी अंतरंग मित्र रही हैं।

यहां आकर कुछ घड़ी को उसे आराम-चैन मिलता है। उसने सामने की दोनों खिड़कियां खोल दीं।

फागुन-चैती जुड़वां हवाओं का मादक झोंका सारे कमरे के वातावरण को स्निग्ध बना गया। खिड़की से लगा पड़ोसी अहीर के आंगन में खड़ा नीम बौरा रहा था। हरेक डाली पर नर्म पत्ते मखमली हो रहे थे। रेशमी फुंदनों-सी निबौलिया आगन में गदराई झरी पड़ी थीं। एक मिनट को उसका मन भी गुदगुदा उठा। वह अलसाई-सी प्रकाश के बिस्तर पर लेट गई।

तकियों और चादरों में प्रकाश के शरीर की गंध छनछना रही थी। इसी गंध मे पगलाई-सी वह डूबने की कोशिश करने लगी। ओफ! यह प्रकाश को कितना प्यार करती है! उसकी हर पदचाप को सुनने को वह कितनी अधीरता से प्रतीक्षा करती है! खूब घुल-मिलकर बातें करने को कितना तरसती है, लेकिन वह रूप का भंवरा लोभी बना इधर-उधर भटकता है। क्यों नही उसकी श्वेत-पवित्र स्नेहमयी आत्मा को निहारता! उसके प्यार, उसके सेवा भाव पर क्यो कभी उसकी दृष्टि नही जाती!

तभी परिचित पदचाप जीने पर सुनाई दी। वह हड़बड़ा कर बिस्तर की सलवटें मिटा कर उठ खड़ी हुई। बड़ी चेष्टा और साहस से बोली—

"आज आप कुछ जल्दी आ गए हैं?"

उसी रूखे भाव से टाई ढीली करता प्रकाश बोला—

"हां एक साथी की बदली हुई है, इसलिए जलपान के बाद चला आया हूं।"

कह कर मेज पर पड़ी एक पत्रिका के पन्ने उलटने-पलटने लगा··· जैसे उसका कमरे में खड़ा होना प्रकाश को पसंद नहीं था। लेकिन वह खड़ी ही रही। शायद कुछ ऐसी भाषा सुनने, कुछ ऐसा व्यवहार देखने, जिसके लिए उसका आतुर मन उछाड़-पछाड खाता रहता है। प्रकाश आंखों में बल डालकर बोला···

"तुम इधर आराम कर रही हो, उधर अकेली मां गेहूं और दाल बीन रही हैं। तुम्हें जब पता है कि मीना की शादी यहीं से हो रही है और उंगलियों पर गिनने लायक दिन रह गए हैं, तब भी बिखरे काम में मां

की मदद नहीं कर रही हो ?"

हिम-खण्ड टूट पड़ा था और उसके नीचे जम गई थी उसकी काया'''
अधमरी काया'''

हे भगवान ! क्या-क्या लिखा कर लाई है वह अपने भाग्य में ! काम से फुर्सत पाते ही पहले वह सास से बोली थी कि गेहूं बीन लें'''। लेकिन वह बोली थी'''''नहीं, कल गेहू बीनेंगे।" तभी तो वह आध घंटे कमर सीधी करने आ गई थी ! चार बजे से फिर जुट जाना है उसे।

होली के दो दिन बाद मीना की शादी थी। तैयारियां शुरू हो गई थी। ब्याह यहीं से होगा। मेहमान आने शुरू हो गए थे। आज बड़ी ननंद आ गई थी।

लड़का डिप्टी-कलक्टर ढूढ़ा था। बड़े ऊंचे पैमाने पर शादी का सामान जुट रहा था। होली के त्योहार के लिए गुजिया, पपड़ियां सेव व आलू के चिप्स वही अकेली तीन-चार दिन से तैयार कर रही थी। शादी का एक-एक जेवर, एक-एक कपड़ा मीना की पसंद पर लिया जा रहा था। अभिमानी और लाड़ली बेटी का जो ब्याह था ! तमाम कपड़ों के सीने का भार उसी के जिम्मे था, क्यों कि वह सिलाई की मशीन दहेज में लाई थी और साथ मे अच्छी सिलाई का डिप्लोमा भी। घरवालों का ख्याल था कि जब वह सीना जानती है तो जहां तक बने दर्जियों से बचना चाहिए न ! पैसों की अलग बचत होगी सो क्या बुरा है !

काम की अधिकता से लीला को ज्वर सा रहने लगा था। पूरे घर में वह नौकरानी की तरह जुटी रहती थी, वह कब खाती है, कितना आराम करती है, कोई जानने की चिंता नहीं करता था यह सब'''

घर का गाड़ो-भरा काम। मेहमानों के नखरे उठाना। रात को फुर्सत में मशीन पर खुद मशीन बनना। सिलाई ढेरों'''ब्लाउज, पेटीकोट, बॉडीज, पर्दे, गिलाफ जाने क्या-क्या ? सिलाई को आज उसका मन नहीं कर रहा था। माथा फटा जा रहा था। आंखें जल रही थी'''हाथ पैर थक कर सुन्न। पहली बार उसने ईश्वर के दरबार में मौत की प्रार्थना की थी।

शादी के कुछ दिन बाकी थे। सिलाई के लिए फटे-कटे टुकड़े उसकी

जिंदगी की तरह बिखरे पड़े थे। तभी मीना क्रोधित-सी कमरे में आकर बोली…

"भाभी ! अगर सिलाई नही आती तो मना कर दो, और कोई इंतजाम होगा…कह दो कि पेटीकोट तक सीना तुम्हे नहीं आता। देखो, जरा इसे, यह पेटीकोट बनाया है !…या जाटनियो का लहंगा। न तो चुन्नटों में सफाई है, न कलियों मे ढंग की तराश। इधर ये ब्लाउज भी सीकर बेमन से पटक दिए है…जैसे राशन लाने के थैले हों ! न बटन ही ठीक लगाए है, न सलमा टाका है… साडी पर मूँगिया सीपी कब टांकोगी ?"

मुह फुलाकर एक सांस मे वह यह फटकार बता गई…लेकिन लीला यो ही सिर झुकाए अपना काम करती रही। काई लगी शिलाओं का रुदन भला किसने देखा है ! पगलाई हवा जब चट्टानो पर पछाड़ खाती है, कौन देता है उसे संवेदना !

मीना की साड़ी की भीनी खुशबू और जेवरो की झलमलाहट का असर जरूर उसकी शिथिल काया पर हुआ था…थकी सी एक नजर जाती हुई मीना के अंचल पर अटक कर फिर झुक गई। जल्दी-जल्दी उंगलियां चल पडी एक घंटे मे सब पर तुरपन…आध घटे मे बटन…फिर बैठेगी वह जमकर साड़ियो पर सीपियां, बेल और किंगड़ी टाकने के लिए।

उसे प्यास लगी। वह हाथ का काम छोड़ नीचे से सुराही लेने चल दी। जैसे ही रसोई के पास से गुजरी कि रिश्ते की बुआजी और सास की बात-चीत की भनक उसे सुनाई पडी। बुआजी कह रही थी—

"अरी भौजी ! जो सिलाई कर रही थी, वही थी क्या प्रकाश की बहू!"सास की आवाज आई—

"और नही तो क्या ! मेरे तो प्रकाश के भाग फूट गए जो यह पद्मिनी आई ! कैसे-कैसे मसूवे बांधा करता था बेचारा…ऐसी बहू लूगा, वसी लूगा…और मिली यह ! अरे, रग भी सांवला भुगता जाता, पर नाक-नक्शा भी तो कुछ नही।"

वह बिना पानी पीए उल्टे पैरों ऊपर आ गई। भीतर तक इतने घाव हो चुके थे कि अब इनकी टीस बर्दाश्त नहीं होती थी…

प्रकाश आंगन मे लेटा इस चर्चा को सुन रहा था। जाने क्यों पहली बार उसे मां का उलाहना और बाहरी औरतो का लीला की बुराई सुनने का चस्का पसंद नही आया। उसके मन में कचोटन सी उठी। मा ने किसी काम से उसे रसोई में से आवाज दी, लेकिन उसने न जवाब दिया और न उठ कर गया।

वह कई दिनों से खुली आंखो देख रहा था कि सारे दिन लीला काम मे पिसती है·· सबको बिस्तर पर चाय देना, बर्तन धोना, खाना बनाना, कपडे धोना, सब के बच्चों को खिला-पिला कर तैयार करना और तब बचा-खुचा खाकर पेट भर लेना···। रात को जाने कब तक मशीन पर सिर झुकाए काम करना · फिर भी मां-बहने ताने कसती रहती हैं···। हरेक से बुराई करती रहती हैं क्यों भला? बहू लाई है या नौकरानी? घर की बहू की क्या यों इज्जत पीटी जाती है? सारा घर लीला की अवहेलना करता है और वह वीतरागी बनी सब कुछ सहन करती है।···क्यों भला? क्या इसीलिए कि उसका पति भी उपेक्षा करता है? प्रकाश का मन बुरी तरह पीड़ा से मथ उठा। वह धीरे से उठ कर ऊपर आया।

घडी की सुइयां बारह पर पहुंचने की तैयारी कर रही थी। उसने खिड़की की जाली से झांक कर देखा कि वह चुपचाप उदास चेहरा लिए हरी साड़ी पर सितारे टांक रही थी। हाथो की कलाइयों मे दो-दो साधारण कामकाज से बदरंग चूडियां पड़ी थी।

प्रकाश को लगा कोई तेज कांटा उसके हृदय मे चुभ गया है। उस झुके मासूम दयनीय चेहरे पर उसकी नजर जम गई।···पूरे साल के बाद उसेवह चेहरा अनुपम सौंदर्य से दमकता नजर आया। उसका घमंडी पौरुष उसे धिक्कार उठा। अपनी ही दृष्टि में आज वह अत्यधिक स्वार्थी, कपटी, निर्दयी दिखाई दिया। वह झटपट बाहर घूमने निकल गया···आधी रात का भटकाव···पश्चाताप का हाहाकार···उसका सिर घूम रहा था···

पर इतनी रात वह कहां जाए? सामने एक चबूतरे पर यों ही पैर टेक खड़ा रहा। उसका मन विकल हो लीला पर ही सोचने को आकुल हो कसमसा उठा था। सचमुच वह कितना स्वार्थी है! उसी ने इस पवित्र नारी को परित्यक्ता-सा बना डाला था। आखिर क्यों?

एक दिन भी वह बहू को, उसके दुख को अपनी सांत्वना में नहीं समेट सका। एक दिन भी इस हारी-थकी नारी का मस्तक नहीं सहला सका। उसे कितने ही वे क्षण याद आए जब लीला ने उससे कुछ कहना चाहा था ···और उसने रुखाई से टाल दिया था। इन शादी के क्षणों ने इस साधना-मयी नारी का सही परिचय दिया है। कितनी मूक यह सहनशीला नारी···। अपने में ही कितनी सिमटी सी···*असहाय सी बेबस नारी ! हाय,* उसने अब तक इसे क्यों नहीं पहचाना।

इस घर में इस घर के प्राणियों से उसी के कारण तो वह नाता जोड़े हुए सेवा करती है, वरना उसे क्या ? और इस सब के बदले में उसने उसे क्या दिया ? केवल भर्त्सना, उपेक्षा और अभद्रता ही न !

आज उसे वातावरण व्याकुल बनाने लगा। तभी कहीं बांसुरी पर कोई दर्दीला स्वर तैर उठा और होली का मादक मृदंग बाजार के नुक्कड़ पर बज उठा। वह तेजी से मुड़ा और फिर ऊपर आ गया। उसे लग रहा था जैसे कोई अदृश्य हाथ उसके कलेजे को खुरच रहा है ?

वह धीरे से कमरे के दरवाजे पर आया। देखा लीला के चारों ओर ब्लाउजों, साड़ियों और भी बहुत से कपड़ों का ढेर लगा है। कुछ बन चुके थे, कुछ अधूरे थे। लीला नाजुक पतली उंगलियों में सुईयों ही पकड़े नींद से भरी पलकें झुका निर्जीव-सी कपड़ों की ढेरी पर झुकी हुई सो गई थी। मामूली धोती कुंकुम-रहित मस्तक, रूखे बाल इधर-उधर उलझे पड़े थे। इस मासूम कली पर इतनी *कठोरता ! ऐसी निर्दयता ! कितना भोला-कोमल* मुख का सुषुप्त भाव था ! जाने कितनी थकान, कितनी पीड़ा उन आंखों में कैद थी और उनको पैदा करने वाला वह स्वयं था··· केवल वह अकेला···

थकान से भरा लीला के वक्ष का उतार-चढ़ाव उसके कंठ को अवरुद्ध कर गया। उसकी धड़कनों का एक-एक स्पंदन उसके स्पंदन से टकरा उठा। उसका पति भाव जाग उठा।

उसने बड़े स्नेह से उसके बालों में उंगली फिराई और अपने ओठों की कांपती भुजिस में वह शबनमी स्वाति सी छोटी बूंद सी सी, जो उसकी पलकों पर पहरा दिए चमक रही थी। लीला ने एक सुखद स्वप्न की कल्पना में धीरे से करवट बदली। एक फीकी किंतु निर्मल मुस्कान ओठों

के कोनों को छूकर महक उठी।

प्रकाश ने धीरे से सुई अलग कर कपड़ों की ढेरी पर से लीला का शिथिल शरीर अपनी बांहों में भर पलंग पर बड़े यत्न और निष्ठा से सुलाया। इस अलौकिक हलचल में उसकी आंखें खुल गई। वह बहु-प्रतीक्षित क्षण उसकी बाहों मे झुका पडा था। उसका हृदय उछल पड़ा। चेहरा कुकुमी हो उठा···कई मधुमास ! कई चन्दनवन ! कई कदलीवन ! ओह ! यह जादुई इन्द्रजाल कही छिन्न-भिन्न न हो जाए, सो बच्चो की तरह मचल कर वह अपने चाहत भरे सरोवर में समा गई···चिड़िया के डैनों के नीचे जैसे शिशु-सांसे सुरक्षित होकर गर्माने लगती है, कुछ इसी प्रकार उसने प्रकाश के सीने मे खुद को डुबो दिया···

झुका शहतीर

उनकी आंखों के आगे आज सुबह से पता नही क्यों अंधेरा-सा छा रहा है···

"देखिए, संभल कर चलिए। अभी आप गिर जाते। सामने सड़क खुद रही है। ये देखिए, कितना बडा गड्ढा है···" शब्द कानों में पड़ रहे थे···कोई उन्हे रोक रहा था···उन्होंने पूरी आखें खोलकर रोकने वाले को देखा और धन्यवाद देकर संभल गए। रोकने वाला जा चुका था।

सचमुच वह पागल हो जाएंगे, अगर ऐसे ही कुछ दिन और चले तो ! लेकिन यह है कौन-सा रास्ता ! कहां निकल आए इधर ! न यह घर का रास्ता है, न बाजार का। दफ्तर से वह आ ही रहे हैं। फिर···? अन्तर्द्वन्द्वों ने उन्हे इतना मथ दिया क्या कि वह अपना होश-हवास भी खो बैठे हैं ! वास्तव मे गिर कर हड्डी टूट जाती तो !···तो क्या ! अस्पताल एक-डेढ़ महीने का प्लास्टर, दवाइयां, फल, इजेक्शन और इन सब के लिए रुपये और छुट्टियां। ओह ! उन्होंने कनपटी से बहता हुआ पसीना पोंछते हुए मन ही मन एक बार और उस अजनबी सज्जन को धन्यवाद दिया। वह लौट कर असली सड़क पर आए, जहां से वह घर की ओर बढ़ चले। व्यर्थ मे कितनी लम्बाई को पैरों से काटना पड़ा···दिल-दिमाग को तसल्ली मे रखकर सड़क पर चलना चाहिए। ढेरों तो वाहन बढ़ गए हैं और ट्रैफिक सेंस है नही किसी में···

घर पर आकर उन्होंने पत्नी को उसी रूप में उदास बैठे पाया, जैसा कि सुबह जाते समय छोड़ गये थे। पहली बार न चाहते हुए भी उनके मन में हल्की सी झुंझलाहट उठी कि यह औरत भी कैसी है ? हमेशा एक ही रुख अन्दाज अपनाए रहती है। चाहे घर मे थोड़ी खुशी आए, या कोई नई बात हो, इसका मुंह यों ही सफेद कागज की तरह कोरा रहता है।

आज उन्हे अचानक यह भी ख्याल आया कि जब भी वह दफ्तर जाते हैं, तब अपने आप ही छाता, बस्ता और जूते तलाश करके लेते हैं, यह नही पहले से इन्हे सामने लाकर रख दे। शाम को हारे-थके सौ चिंताओं का बोझ लादे घर आते हैं, लेकिन मजाल है जो किसी के भी चेहरे पर कोई भी उतार-चढ़ाव आए ! हरेक एक उडती-सी नजर डालकर काम मे लग जाता है, जैसे घर का मालिक आठ घंटे पिसकर नही आया, बल्कि कोई मजदूर-जमादार या पल्लेदार आया है।

अचानक उन्हे अपना दोस्त जुगल किशोर याद आ गया'''उस दिन की बात सोचने लगे कि कैसे एक दिन जबर्दस्ती ले गया अपने घर। वाह ! क्या बात थी ! उसको देखकर बच्चों की आंखों मे चमक आ गई थी। लड़की फौरन पानी लाई। बड़ा लड़का दूध लाने को चल पडा और उसकी पत्नी की आंखों में अलग उल्लास छलका पड़ रहा था, जैसे जुगल किशोर की पूरी मेहनत से वह जानकार है और अपने मन में उसके प्रति सहानुभूति तथा प्रशंसा रखती है। तभी तो उसकी औरत के ओठों पर ऐसी मुस्कान उन्होंने देखी, जो हरेक दम तोडते आदमी को फिर से अधिक युद्ध में जुटने की शक्ति दे दे !. घर मे चहल-पहल सी मच गई थी। तभी तो जुगल स्कूल मे चहकता रहता है। रोज खाने का टिफिन साथ लाता है। उन्होंने एक बार मजाक भी किया था कि'''

"यार ! क्या स्कूली बच्चो की तरह परांठे लादकर लाते हो ?"

सुन कर कैसा दिल खोलकर उसने अट्टहास छोड़ा था—

"वाह, मोती लाल ! तुम इतना भी नही समझे कि खाना लाना कितना गुणकारी है ! क्या बात कही है दोस्त ! कितना भी खाकर आओ, लेकिन दो-तीन बजे भूख लगती ही है'''लगी है कि नही !'''और भूख को मार कर यों ही लगातार काम मे जुटे रहने मे कोई तुक नही। शरीर के पुर्जे कमजोर होते हैं न ?"

"वह तो ठीक कहते हो तुम, लेकिन हाफ-टाइम मे बच्चों की तरह खाने का डिब्बा खोलना मुझे बड़ा अटपटा लगता है ?"

"तो बैठे रहो न अटपटापन भूखी आत्मा पर बांधे, कौन रोकता है ? या फिर हर दिन बाहर कैंटीन पर गलत, गंदी और मिलावटी ऊटपटांग

चीजें खाना चाहो, तो वहां चले जाया करो···गलाया करो मेहनत की कमाई···"

"मतलब यह रहा कि तुम्हारी नजर मे कुछ भी करो, पर खाओ जरूर ···मैं कहता हूं कि दो मिनट की छुट्टी मिली है, तो अगले कालांशो के लिए चुपचाप आखें बंद करके आराम ले लो और तरोताजा हो जाओ···"

"यह काल्पनिक ताजगी शरीर को क्या देगी ? मैं कहता हू कि जरा तेजी से चलने पर मशीन भी आराम और खुराक चाहती है···इस व्यस्त युग मे आदमी एक पुर्जा ही क्यों, पूरी मशीन ही नही बन गया क्या ! फिर इसे चलाने के लिए ठोस पदार्थ नही चाहिए क्या ? हां, इसे मात्र घसीटना ही हो, तब तुम्हारा नजरिया ठीक हो सकता है, लेकिन कितने दिन घसीटोगे ? छोड़ो अब, लो खाओ···"

एक उनके परिवार के मुर्दा लोग हैं अपने घर मे···कभी नही सोचा कि जल्दी हड़बड़ी मे पूरा खाना भी नही खा पाते, तो साथ ही रख दें। जेब में पैसा नही रहता जो कैंटीन जाएं ! और वहां जाना कोई मजाक है। दो-चार और आकर पास जुट जाते हैं, उन्हे भी समेटना पड़ता है।

पेट की आतड़ियों में लोहू पड़ जाता है। ठीक ही तो कहता है जुगल ···खाली पेट कार्य में भी सुस्ती आती है और हाथ-पैर अलग बीमार से हो जाते हैं। सारे ही बाबू लोग जब कुछ न कुछ खाते हैं, तो वही जानते हैं कि उनकी भूख उन्हें कितना नोंचती है ! यह हड्डियो का पजर क्या वह यों ही हो गए हैं ! कोई बीमारी नहीं, बस काम और चिंता, ऊपर से आधा पेट खाना···

दुनिया कहती है, आदमी को संतुलित भोजन अवश्य करना चाहिए। यहा संतुलित तो क्या, जितना चाहिए उतना भी नही मिलता। जाने कैसे भाग-दौड मे सुबह कच्ची-पक्की दाल-रोटी मिलती है। कभी यों ही प्याली भर काली चाय पीकर ही भागना पड़ता है।··· परन्तु किसी को क्या ? और सब तो आराम से खाते हैं न ?

उन्होंने छाता खूंटी पर टांगा। कुर्ता उतार कर हाथ में ही लिए खड़े रह गए। इतने हैंगर लाए, पर उन्हे एक नही मिलता। खूंटी की नोक उनके कुर्ते की गर्दन पर कोड़े की तरह उठी रहती है। देखने, वालों को

कितनी बुरी लगती होगी ! इस खूंटी को भी नहीं छोड़ते। तभी उनकी निगाह जेबों पर गई। दोनों जेबें उधड़ गई थी। बस थोड़ी-सी अटक रही थी। कई दिन से कह रहे हैं, अभी तक इन्हें सिलने का नम्बर नहीं आया था—यो सारे दिन मशीन खड़खड़ायेगी। इतवार मुश्किल से उंगलियों पर दिन गिनकर मिलता है। जरा-सी दुपहर की गुनगुनी झपकी आई नहीं कि सिर पर दो ही चीजें बजेंगी, या तो मनहूस मशीन या इमामदस्ता'''। क्या कहें ! अंधे को तो राह दिखा दें, लेकिन सूझते हुए को क्या कहें !

उन्होंने पत्नी को आवाज देकर कहा

"लो, इसी समय इसकी जेबों मे टाके लगाओ। कब से इस घर में आकर खड़ा हूं। एक गिलास पानी तक लाकर नहीं दिया गया। गाड़ी भरके मुर्दार भरे पड़े हैं, लेकिन व्यवहार, तहजीब दूर तक नहीं है। कोई दोस्त इनका अगर आ जाए, तब देखो, पैरो मे हिरन लग जाते हैं।"

"आप तो घर मे आते ही हाथ-पांव फुला डालते हो'''रामजाने कहां-कहां की झुंझलाहट हमारे सिर मढ़ी जाती है'''आए हो अभी'''पानी-चाय सभी मिलेगी'''सास आई नहीं कि चल आफत'''"

"आते ही मिलनी चाहिए हर चीज तैयार'''समझी'''एक बार समझा दिया, हर दिन यही रोना क्यों?" जरा रुककर फिर गुर्राये'''

"सावधान रहना चाहिए वक्त पर या नहीं'''?"

"तो क्या जगत जीत कर आते हो बहादुर बनकर जो हम आरती सजाये दरवाजे बाहर खड़े रहें गुणगान करते। घर के हजार काम-धंधे हैं, हमें भी कहां होश है बार-बार घड़ी देखने का और सावधान होने का ?"

"हां, हां, आज आदमी बहादुरी से युद्ध जीतकर ही आता है'''समझ लो अच्छी तरह से'' जीवन जीना कितना दुष्कर है ! हर जगह कठिनाई, परेशानी, असुरक्षा, चिंता'''बीते वक्त की, आज की और कल की'''चिंता ही चिंता'''जगत जीतना हो, या जिन्दगी का एक दिन जीतना हो, है जीतना ही'''"

"'''"

"नाश्ता-चाय सब करीने से लग जाता है। सारी बेरौनकी बस मेरे लिए है।" लेकिन उन्होंने देखा कि इस सारे व्याख्यान का कोई प्रभाव

किसी पर नहीं हुआ'''बल्कि सब बच्चे माथे पर त्यौरियां डालकर इधर-उधर हो गए। पत्नी का मुह और लटक गया। कमरे से बड़े राजू की बड़-बड़ाहट आई'''

"अब क्या पढ़े ? जब देखो उपदेश। घर में घुसते ही मनहूसियत फैला देत हैं'''"

सुनकर वह चीख उठे—

"क्या मन में ही घुटकर रह जाऊं मैं ? तुम लोगों के लिए खटता-मरता हूं। तुम लोगों के भले-बुरे की फिकर रहती है। अरे ! अभी क्या छाई है मनहूसियत, आगे देखना, जब दो कौड़ी कमाने में कमर टेढ़ी हो जाएगी !'''और बहा लो खून-पसीने की गाढ़ी कमाई को'''!"

पत्नी ने जेबें सिल दीं और कुर्ता खूंटी पर टांग दिया। मन की सारी झुंझलाहट उस पर उतार कर वे बोले—

"तुम्हारा क्यों मुह चढ़ गया है ! घर से बाहर रहूं तभी खुश होते हो क्या सब लोग ?"

पत्नी जैसे इसी घड़ी का इन्तजार देख रही थी कि कब और बोलने का मौका मिले'''बोली'''

"तुम तो जैसे पूरी दुनिया को फाड कर खा जाओगे। हजार बार कहा है कि घर से तसल्ली में जाओ और शान्ति से आओ। चार दाने जो खाते हो, सो अंग मे ही लगें। बाल-बच्चों के पीछे हाथ धोकर पड़े रहते हो। हर घड़ी की चखचख हमे तो नहीं सुहाती।"

"हर चीज बेकायदे और फूहड़ देखकर खुश हुआ करूं ?"

"अरे ! तुम तो हाथ-पैर पीटते निकल जाते हो आठ घंटे के लिए, मगर घर की आफतें तो हमे ही तंग करती हैं। अब सुनो, नरेन्द्र और माया तो सारे पर्चे इम्तहान के खराब कर आए हैं। पिछले बरस तो रह ही गए थे'''इस साल भी गए'''अब इनकी ओर क्यों आंखें निकाल रहे हो ? कभी दो आखर बैठकर पढाए हैं इनको भी। औरों को चाहे ज्ञानी-महाज्ञानी बनाओ, पर है यह कैसी शरम की बात कि एक अध्यापक की औलाद पढ़ने में दलिद्दर रहे !"

"और क्या आफत है ?"

"राधा की चिट्ठी आई है कि यहां सभी ताना देते है। पूरे डेढ बरस से तुम लोगो ने मुझे बुलाने का नाम नही लिया। जबकि उसकी दोनों देवरानियां साल मे तीन बार पीहर हो आईं। सुरेश को डाक्टर ने फिर पीलिया बताया है। अगर बढ गया तो क्या करेंगे। रोटी-पानी छुटेगी। सारे दिन दही-छाछ, मौसमी…कीमती दवाईयां…कहां से होंगी ये सब! बोलो! इधर ये दो लड़कियां और पहाड़-सी छाती पर गहराती रहती है। इनकी भी पढाई खतम होने पर आ रही है, और क्या खाक पढती है। ? पढ़ाई का तो बहाना है। अब कौन-सा बहाना लेकर घर मे ये बरगद रोपोगे! एक भी लडका कहने मे नही है। बाहर की नकल करते है। पूरी नही होती तो हमे खाते हैं…"

"और कौन-सा पहाड टूटा है, वह भी बोल दो आज—"

"मेरी कमर में जान लेवा दर्द बना रहता है, पचास बार कहा है कि मूलचंद वैद्य जी को दिखला दो…उधर वो दोनो दुकानों के मुनीम रोजाना घर के चक्कर मारते रहते हैं कि साल हो गया, रुपए देने का नाम नही लेते हो। न ब्याज देते हो, न मूल। सिर पर त्योहार आ रहा है… कपडों का खर्च बढेगा… दीवाली है न! जाड़े का बंदोबस्त होना है… घर में आदमी आता है… दुःख-सुख की बात पूछता है। पीछे क्या हुआ! कौन आया! कोई परेशानी है क्या! तुम पानी-नाश्ते को ही लिए फिरते हो! यहां आंखों को चिंता अंधा किये रहती है। ये सारे औंधे तिरछे चोचले वही अच्छे लगते है, जहां सुख-चैन हो… उलीचने को खूब पैसा आता हो और कल की फिकर नही हो… बिना समझे-बूझे चीखते रहते हो। लो चलो, जब खाली पानी-चाय छोड़ो…रोटी बन रही है, वही खा लो…"

सारा जहर उगला जा चुका था। घर की दीवारो पर जैसे और भी स्याही पुत गई थी। वह चौकी पर जड़ होकर बैठे रह गए। कब दोनों लड़कियां रोटी दे गईं… पानी रख गईं… कब उनके अभ्यस्त हाथों ने खाना खा लिया…कुछ पता नहीं… उनकी तंद्रा तब टूटी, जब चौके में लड़का कामता खाना खाने से मना कर रहा था।…कि दोनों समय सूखी रोटियां उससे नही खाई जाती। उसका दोस्त विजय, जिसने पढ़ने मे बहुत

मदद दी है, वह भी कमरे मे बैठा है, उसे भी खाना खिलाना चाहता हूं, मगर यह खाना है, जो खिलाया जाय ! न ढंग की सब्जी, न चटनी···

उनके माथे की नसें चटखने लगी। लग रहा था जैसे पूरे शरीर की नसें खिच रही हों ! कमर टूट-सी रही थी। उनका मन हुआ कि वे बहुत तेज दौड़ें। इतना तेज कि कोई न पकड़ पाये। ऐसी जगह जाकर रुकें जहां न ये घर हो···न मांगने वाले···न स्कूल वाले। लेकिन कहां भागें ?

मौत क्यों आने लगी ? नंगे-भूखों की ओर उसकी भी शायद आने की इच्छा नहीं होती होगी ! वह करें भी क्या ? इतनी बातें, इतनी शिकायतें उन्होंने सुनी हैं, इनका क्या उत्तर दें।

वह उसी नीम बेहोशी हालत में ऊपर छत पर गये। वहां जाकर देखा कि अभी तक न किसी ने यहां झाड़ लगाई थी और न पानी छिड़क कर कोई दरी-चादर ही बिछाई थी। यह प्रतिदिन का कार्य था, जिसे छोटी बीनू बड़े चाव से करती है···और तो क्या है, जरा-सी देर को चहल-पहल-सी मच जाती है। पानी के छिड़काव मे थकान उतारने वाली गंध उठती है। चारों ओर बिछी छोटी-बड़ी दरियां, कोने मे रखी पानी की गगरी, पास में रखा चमचमाता हुआ लोटा बड़ा अच्छा लगता है···आज ये सब साज-सामान दिखाई नही दिया। दुपहरी भर धूप मे जली-तपी, भांय-भांय करती छत भी उन्हे अपनी पत्नी की ही तरह लगी, जो अभी-अभी उनके मन में कठोर वास्तविकता का लावा छोड़ कर चुप हुई है।

वह चौड़ी वाली मुंडेर पर बिना कुछ बिछाये यों ही बांह की तकिया लगा कर सो गये। सिर मे दर्द हो रहा था। ठीक ही तो कहती है बीनू की मां। सारे दिन घर की हूर कमी को जाने कैसे पूरा करती है ! महीना चलाने पर भी जिन्दगी का गणित गलत हो जाता है। स्कूल-कालेजों के खर्चे अलग तोड़े डाल रहे हैं। यह औलाद पढ़ती तो खाक नहीं, आये दिन किताबें, कापियां···तीसरे दिन पैन-पैंसिलें···फिर भी दो-दो साल फेल होते हैं। इतने बड़े-बड़े हो रहे हैं, अभी दसवीं-ग्यारवीं से आगे नही खिसके। कब पढ़ेंगे ? कब चार पैसे लायेंगे और नौकरी क्या इन्ही जैसे काठ-कमण्डलों के लिए पड़ी है। आदतें नवाबों जैसी डाल ली हैं। हमें देंगे भी क्या ! पहले इनके खेल-तमाशों से कुछ बचेगा तब न !

गिन लो। मकान मे न मरम्मत कराई है, न पुताई ! शायद ताऊजी के मरने के बाद तुमने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया है। भई, जरा ढंग से रहना-खाना सीखो। सभी के चेहरों पर मुर्दानी-सी पुत रही है'''कह कर दो घड़ी बाद ही संतुष्ट खर्राटों की दुनिया मे खो गये थे। ऐसी एक करवट की नींद उनकी तकदीर में कहां !

दादू तो कह गये जो मन मे आया'''उन्हें क्या पता कि किस टूटे-पुराने शहतीर के नीचे खड़े रहते हैं हम लोग'''! एक ऐसा शहतीर जो कभी भी उनकी कमर पर गिर कर उन्हे चकना-चूर कर सकता है। दादू का क्या है ! खूब बाप-दादों से मिला'''खूब पढ़े-लिखे और अफसर बन गये'''अच्छे वातावरण में पले आज भी मन चाहा जीवन मिल रहा है... मगर हम क्या करें ! इस ठंडी चिंगारी का क्या करें, जो हर पल रेशा-रेशा करके सुलगाती रहती है !

'''लेकिन हम अकेले कहां हैं ? जाने ऐसे ही कितने और है, जो मंजिल की ओर कदम-कदम बढ़ाते चलते रहते हैं '''!

जाने कब बड़ा लड़का दरी के छोर पर आकर सो गया था'''उनकी नजर अब जाकर उस पर पड़ी थी ''दुबला, भोला, निर्दोष चेहरा''' इनको भला क्यों दोष दिया करते है वह ?

फूल हैं ये'''हवा-पानी ताजा मिल जाये'''जमीन-खाद अच्छी मिले'''सवारने-तराशने के लिए कुशल निगाहें और हाथ मिलें, तब ! तब कैसा लहलहा उठता है बगीचा !

उनके आंगन के ये फूल आंधी-गर्मी की आहट पाकर अगर झल्ला उठते हैं थोड़ी देर के लिए, तो क्या हो गया ? इन्हे भी तो प्यार चाहिये''' आगे बढने को सहारा चाहिए'''जाने इनमें से कोई क्या बन जाये, पता है किसी को किसी के भाग्य का !

उन्होंने करवट लेकर बेटे की कमर पर सिर टिका लिया'' उनका मन भीतर तक गीला हो उठा'''ममता की बूंदे पलकों मे डबडबा उठीं'''

संकल्प के अर्थ

जमुना ने लाख कोशिश की सोने की, लेकिन नीद जैसे उसे चुनौती दिए बैठी थी कि देखें कौन जीते, कौन हारे ! आधा गाव सो गया था। अवारा कुत्तों की भौंकने की आवाज जगार डाल रही थी।

फागुनी हवा के गुलाबी झोंके उड़ रहे थे, जिनमे लिपट कर सरसों के फूलों की मीठी गध अलसाये डाल रही थी। नाकी के कुए के उस ओर पट्टेदार की चौपाल पर सदा की तरह गाव के रसिक तान अलाप रहे थे। जो भी झोंका तेज आता उसी के साथ ढोलक-मजीरे की आवाज जमुना के दिल को मथ डालती। जवान कंठों को आवाज सबसे ऊंची लहराकर उठती थी।

चमरवाडे में किसी की शादी थी। हा, कल्लू चमार की बेटी हंसा की थी। बराती ढप लाए होगे। तभी तो औरतों और मर्दों के नाचने वाले गीतो के जोशीले बोल उसके आंगन को पार कर छप्पर पर गूज उठते थे।

मर्दों की मोटी वजनदार आवाजों के साथ लड़कियों-बहुओं की पतली आवाजे कापते पत्तों-सी लरज रही थी। पूरे गाव की चादर पर बसंती रंग फैला पड़ा था। जमुना की आखें जलने लगी। कठ मे खुश्की महसूस हुई। वह पानी पीने उठी, पर वर्फ जैसे ठंडे पानी से भी उसके मन की बेचैनी दूर नही हुई।

हर साल फागुन मे इसी पट्टेदार की चौपाल पर रंग जमता है। शाम से ही भग भिगोना, पीसना, फिर वर्तनों का अड़गा कौन करे, यह सोचकर चुल्लुओं मे ही डाल गटर-गटर पीकर गाव के लोग मस्त हो जाते हैं और रात भर सुरमई आखों से गुलाल झरता है…गीतों में जवानी नाच उठती है।

इस चौपाल की मस्ती आसपास के गावों के नौजवानो को भी मस्त

कर देती है। कानों से ऊंचे लट्ठ लिए, मिर्जापुरी अंगोछे सिर पर लपेटे, चमरौंधे चरमराते हुए कितने ही युवक इस मंडली में आकर रातें गुजारते हैं।

उसने फिर करवट ली। आज बैरिन नींद नहीं आने की। ये आवाजें आज पागल बनाकर छोड़ेंगी। एक के बाद एक बात याद आती चली जा रही थी। हर साल की तरह ही पट्टेदार की चौपाल महक रही थी।··· लेकिन वह ऊंची, लहरदार मर्दानी आवाज कहां खो गई, जो उसके दिल की धड़कनों को नीचे-ऊपर कर दिया करती थी!

बीती रातें आखों के सामने आ गईं जब जल्दी-जल्दी सास को रोटी खिला ससुर की थाली मे गर्म गधियाता सरसों का दाल-आलन पड़ा साग और बाजरे की रोटी ले बाहर औसारे में आती, तब अपने पति हरिया की अलापी की किसी कड़ी पर न्यौछावर हो लेटे-लेटे से ससुर के हाथ धुलाना भूल जाती थी। गांव का ऐसा ही सजीला-बांका घर वाला पाकर सुहाग के सुख मे बौरा कर ऐसी घुमेर लेकर लौटती कि बिछुओं और झाझन की मधुर आवाज से पूरा आगन चौका भर देती।

बूढ़ी सास के कलेजे में इकलौते बेटे की इस सावली-सलौनी बहू के सुख से रस भर उठता। मीठी-सी झिडकी मे मन का सारा सीरा उड़ेल कर कहती—

"अरी ब्याहली! तू भी गर्म रोटी-साग खा ले। जाने इस लड़के को तो क्या हो गया है, न रोटी की सुध, न पानी की! उसकी रोटियां अच्छी तरह चुपड़-दाब ओटे में रख दे, जब आएगा खा लेगा। भूखी-प्यासी कब तक आधी रात गए हलकान होती रहेगी!"

सास के लाड़-भरे बोल सुन कर वह लजा उठती। कहती कुछ नही, बस चुपचाप अपनी रोटियां भी उन्ही मे दबाकर गर्म बरोसी की राख पर साग की हांडी टेक दबे पांव दुबारी की साकल खोल अपनी कोठरी मे आ जाती···कान फिर जुड़ जाते अपने हरिया की बांकी आवाज से···

"चले पौन मतवारी, कागा बोलं बैठ अटारी···" ऊंची आवाज— साथ ही ढोलक की थाप···चित्र बिखर गए, विचारों का सपना टूट गया। नेह-लड़ी का एक-एक मनका झर गया···

उसने फिर करवट बदली। लाख दबाने पर भी एक आह गर्म आंसू में लिपट कर बांह पर गिर गई। रजाई खींच कर आखों पर दबा ली। भटका ध्यान फिर विचारों की मंजिल पर आ टिका···

ऐसी ही रातें थी। रोटी लिए कान लगाए बैठी रहती थी···मेहदी लगे हाथों से कभी झूमर सरकाती, कभी माथे पर लगी शीशे की दमकती बिंदी पर अंगुली फेरती, पर मन चमरोधा की आवाज और साकल खटकने के ऊपर ही लगा रहता।

तभी याद आया कि आते ही उसे कितनी चुहल सूझती थी! रोटियां खुद तो क्या खाता था, बस उसी के मुह में घी भरे गस्से भरता चला जाता था···कौर पर कौर। हर अठवाड़े को पैंठ से जलेबियां और कत्था-चूने से रचा पान लाता और उसके लाल-लाल ओठो पर पान की सुर्ख लाली को देख कर 'सहरी मेम' कह कर उसे खूब गुदगुदाता-हंसाता। जाने कैसी-कैसी बहकी-बहकी बाते करता रहता घण्टों तक···

बदन मे झुरझुरी-सी छा गई। लेकिन तब उन नशीली रातों की उमंग कुछ और थी। सास न सुन ले, इस डर से ऊपर कपडा लपेट लेती थी। पर हरिया था···! बस कडे-चूडियां बज उठती·· बिछुए रुनझुन छनछना उठते। वह झिझक उठती, रूठती, मा का डर दिखाती, पर उसे कैसी हया, कैसी शर्म! वह और भी जोर से बतियाता, हसता और बालकों की तरह मचल उठता।

पता ही न चला कि आसुओं के ढेर कब टपक पड़े। आज भी वैसी ही रात है···वही फागुन है···वही पट्टेदार की चौपाल में जमघट··· लेकिन वह रस-भीगी आवाज कहां खो गई है?

आज ओटे पर धरी रोटिया सूख रही हैं। बूढी सास की मीठी झिड़कियां आंसुओ मे डूब गई हैं। आज न दुवारो की साकल किसी के इंतजार मे है, न ससुर की गहरी नीद मे विश्वास है, न जूतियों की चरमराहट रही, न चूड़ियों मे खनक रही।·· बिछुए बोल खो बैठे·· बिंदिया रूठ गई ··किधर चुप हो गए वे जवान मर्दाने कहकहे? कहा गए वे कसरती बाहों के कसाव? समय कैसे धो-पोछ देता है दिन-महीनो-वर्षों की जमी नेह-दुलार की जमीन को···?

जी घबरा उठा'''और नहीं लेटा गया। सूने भाय-भाय करते कोठे में उसकी नजर अंधेरे के दायरों में फैल गई। सांसें धोकनी की तरह चल पड़ी। मन में आया कि दौड़कर वह चौपाल पर जाए और ढोल-मंजीरे तोड़-फोड़ डाले। पर इससे होगा क्या? क्या वापिस उसका हरिया आ जाएगा?

किस-किस चौपाल का रंग-भंग करेगी? दुखी है तो क्या जमाना भी दुखी है? किसी को क्या! कौन मरा, कौन जिया, सब अपना रस-रूप देखते हैं। तसल्ली के बोल कितने दिन काम देते हैं? उसका अपना कष्ट है। उस जैसी जाने कितनी जमुनाएं हैं'''जाने कितने हरिया देश पर बलि हो गए'''क्या देश के लोगो के तीज त्योहार रुके? फर्क भी औरों को क्या आता है!

रंगीला फागुन बेरंग हो उठा था। उसके भरे गदराए अंगों में जैसे तीखी टीस उठी। अचानक उसे लगा कि किसी ने रंग भरी बाल्टी उसके ऊपर धप्प से मार दी हो! मुंह को गुलाल से मीड़-मीड़ कर किसी ने और भी गुलाबी कर दिया हो!

दीवारों में अनेको तस्वीरो के साये तैर उठे'''हाथों का बरजना, रंग भरे बर्तनो की छीना-झपटी, जेवरों की छनछनाहट, घूंघट मे खनखनाती हंसी'''शोर'''। अपने कान जोर से भींच लिए, आंखों मे बाढ़-सी आ गई। एक-एक बात पिछले साल की याद आकर सालने लगी। हर बात ऐसी ताजा, जैसे कल की हो!

वह झपाक से उठी। दियासलाई टटोल कर ढिबरी जलाई, कोठा धुंधली पीली रोशनी में खाने को आने लगा। दीवारें उसके और हरिया के प्यार की गवाह बन बोल उठी। मोटे पायों वाला डहुला हजार बिच्छुओं के डकों से भी अधिक उसको टीसने लगा। लोहे-पीतल की कीलो से जड़ी, सेरों तेल पिए कोने मे रखी लाठी अपने मालिक की याद में बिसूर उठी।

वह धीरे-धीरे कोने मे रखे लकड़ी के बडे संदूकचे के पास गई। कांपते हाथों से उसे खोला। ऊपर एक हरे रंग का लहंगा रखा था, उसे निकाल कर नीचे बिछा लिया। एक पोटली खोलकर चांदी के झूमके, माथे

का झूमर, हाथों के छन, कंगन, दुए, हथफूल, आरसी, कमर की तगड़ी और गले का कंठा निकाल कर उस पर फैला दिए। टिकरी से दिया लाकर आंखें फाड़-फाड़ कर वह एक-एक गहना हाथों में लेकर देखने लगी। हरेक चीज में हरा-लाल रंग बुरी तरह घुस गया था। यह क्या! गले की हमेल से सूखी पत्तिया टेसू की झर उठी। आखें भी उसी वेग से तर हो गईं। कलेजा दर्द का गोला बनकर गले मे अटक गया।

याद आ गया वह दिन जब छुट्टी खत्म होने से दो दिन पहले हरिया बोला था—

"ले बहुरिया! जाने कब आना हो! तू कहेगी होली सूनी गई। फागुन तो सारा ही होली का होता है न! ला, आज टेसू के फूल और गुलाल से तुझे भिगो जाऊं···"

और सचमुच ही ढेर सारे टेसू लाकर भिगो दिए थे उसने। दो बड़े-बड़े पुड़े भी चक्खन दादा की दुकान से लाल गुलाल के ले आया था। होली के त्यौहार की तरह ही उसने खूब पकवान बनवाए थे। दोपहर ढलते ही उसने रगा-रंगी मचा डाली थी···

"ले संभल, जमुनिया! ऐसा भिगोऊंगा कि तू भी याद रखे, फिर कभी होली का नाम भी न लेगी।"

सचमुच वह होली का कभी नाम भी न ले सकेगी अब। खूब खेल-खिला जो गया था। जेवरी पर हाथ रखे जाने कितनी देर वह रोती तड़पती रही।

ऐसे ही दिन थे। खलिहान गेहूं की बालो से लदे हुए थे। सरसो फूली थी। चने का साग घर-घर महक रहा था। हरिया की दराती खेतो में ऐसे चलती कि दो मूठो में ही सेरों गेहूं की बालियां और हरे-हरे चने के बूट काट लाता। शाम को जाने कहां-कहा की गप्पें मा को सुनाता। रोटी सेंकती जमुना के साथ भी चुपचाप नोंच-खसौट चलती रहती। खा-पीकर जाता तो आधी-रात को चौपाल से गुनगुनाता, चर्र-मर्र करता घर लौटता। चुपके से साकल बंद कर हाथ में जूते लेकर ऐसे हौले-हौले कोठे मे आता, जिससे बूढ़े बाप की आखें न खुल जाएं।

खड़िया मिट्टी से लिपी दीवारों और गोबर से लिपी जमीन और भी

सीधी हो उठती। हरी सुनहरी बालें उसके कानो में खोस जाने क्या-क्या बालकों की सी हठें करता। वह हवा की लहरों पर कांपती कबूतरी-सी फड़क उठती। कोठे के कोने-कोने मे शहद जैसे छिड़क उठता। मिश्री की डलियां फूट जाती। हरिया का चौड़ा-चकला सीना उठने-बैठने लगता। गले मे पड़ी सोने की गंडेली और भी कस जाती।

एक दिन अलसाई सी दुपहरी मे वह जल्दी ही घर लौटकर आया और बापू से बोला…

"बापू ! मैं फौज मे भर्ती हो रहा हूं। देश की रक्षा का समय आ गया है। मेरे जैसे और भी कितने ही कडियल जवान भर्ती हो रहे हैं। दुश्मन से लाज बचानी जरूरी हो गई है…"

और बापू सुनकर हक्का-बक्का हो गए थे। हुक्के की नगाली हाथ से छूट पड़ी थी…बेटे का मुह टुकुर-टुकुर ताकने लगे…तभी हरिया रात को मां से बोला था—

"मां ! ले खिला दे आज भरपेट घी-गुड। देख तेरा बेटा लाम पर जा रहा है। ऐसा गुड़-राब खिला कि वो मारू खीच कर गोलियां" कि वो मारूं खीचकर गोलिया कि दुश्मन फिर इधर मुह करना भूल जाए…"

मां सकते मे बैठी ही रह गई थी…

"ला, तू भी खिला दे बादाम-सी रोटियां सेक कर। इतने दम से लड़ूगा कि सारा गांव तेरे आदमी का जौहर सुन-सुन कर दातों तले उगली दबा लेगा—"

सास के भीतर जाने पर कैसा घोल जमाया था उसने उसको यह बात कह कर। उसकी पीठ पीड़ा से कराह उठी थी…दाग हरे हो गए हैं सारे आज…

एक दिन सचमुच ही सारे घर की पर्वाह किए बिना उसे रोता हुआ छोड़ वह फौज मे भर्ती हो गया। बूढ़ा पिता खाना भूल गया…मां के चेहरे पर उदासी छा गई और उसके तो दिन ही सूने हो गए। आसपास के गांवों के कितने ही नौजवानो की बाढ की बाढ़ भर्ती होकर दुश्मन से लोहा लेने चल पड़ी।

उसकी रातें काटे न कटतीं। दिन खजूर से लंबे हो गए। भला ऐसी

भी निगोडी कैसी लडाई ! बैठे-बिठाए आकर भिडते हैं ! अपनी जमीन से चैन नही, दूसरों के खेत-खलिहान ताकते हैं। नंबरी लुटेरे कहो के। कैसे भले दिन गुजर रहे थे कि बैरियो ने घर-घर से जवान खीच लिए। बेचारे बूढ़ो के हाथों मे हल-बैल आ गए।

हां, घमड भी उसे कम न था। उसी का आदमी गांवभर मे जवान पट्ठा निकला। कैसा वर्दी में कस कर गया धरती मां की सेवा करने। बस, लड़ाई निबटी नही कि वह लौटेगा अफसर बनकर।

दिन गुजरते देर नहीं लगती। धीरे-धीरे आठ महीने गुजर गए। लड़ाई जोरों पर थी। डाकिया हर महीने रुपये और चिट्ठी लाता जिसे केहरसिंह साहू का मिडिल पास लड़का बाच देता। बेटा बहादुरी से लड़ रहा था···पीठ नहीं दिखाई एक बार भी। बेटे के रुपये लेकर और उसकी बहादुरी जानकर बुढापे में गर्मी आ जाती ··हल की मूठ पर हाथ और मजबूती से कस जाते। एक दिन साहू के लड़के से ही एक कार्ड बापू ने लिखवाया—

बेटा ! फगनौटी का महीना है। लड़ाई में कुछ ठंडक हो तो दो-तीन दिन को आ जाना। मा-बहू बाट देखती है। मुझे ज्वर है, मिल जाओ। पेड़ के पीले पत्ते हैं, जाने कब झर जाए ! कोशिश करना आने की···।

दस दिन बाद ही चिनाई वाले कुएं की ओर से शोर उठा,

···हरिया दादा आ गए···!

···हरिया बेटे ! अच्छे रहे ?

···कहो देवर जू ! मजे मे तो हो !

तभी कड़कदार बूटों की आवाज में घुली वही शहदभरी आवाज सुनाई दी:—

···हां ! भौजी, खूब मजे मे रहा, पर अब मुझे रिसालदार हरीसिंह कहो, समझी···!

और वही दूध-सी हंसी उसके आंगन में बिखर उठी।

मा दौड़कर भीतर बतासे लेने गई। छप्पर में घुसते ही हरिया ने उसके घूघट मे हाथ डालकर अपनी ओर खीच लिया। वह लजा गई। घर में मेला-सा लग गया। सभी उसे देखने आए। अच्छा खाने-पीने और

मेहनत करने से उसका रंग निखर गया था । वह जल्दी चौके मे गई और मिर्चे बरोसी में झोंक आई। उसके पैर जमीन पर नही पड़ रहे थे ! राई-नौन तो करना ही पड़ेगा, आदमी को किसी की नजर क्यों खाए ?

हरिया ने आगन में नीम के नीचे बिछी खाट पर बैठकर संदूक खोला। लगा जैसे भानमती का पिटारा ही उलट दिया था ! मां-बापू के लिए कपड़े, तम्बाकू का डिब्बा, चाय और बहू को साड़ी'''। शायद बापू ने यह भी लिखवा दिया था कि बहू के पैर भारी है, सो रग-बिरंगे खिलौने भी निकल पडे । घूघट में से सब कुछ देखकर वह ऊपर से नीचे तक शर्म-प्यार से भीग उठी । मा ने कपड़े सहेजे। बेटे को प्यार किया । खूब घी-दूध, चावल-दही खिलाए। आधी रात तक दोस्त घेरे रहे। लड़ाई के किस्से तोपों के गोले, बंदूकों की गोलियां, दुश्मन को मारना-पकड़ना'' आदि-आदि की कितनी ही बातें वह सुनाता रहा।

बड़े-बूढ़े सुनकर उसे शाबासी देते रहे। वह अपने कोठे में दूध लिए उसका इंतजार करती रही। हरिया अब बहुत बड़ा अफसर उसे लग रहा था। उसका गोरा रूप किगड़ी लगे उन्नाबी लहगे-ओढ़ने मे दप-दप कर रहा था। सास ने हठ करके सारा जेवर पहना दिया था।

मन मे मोरनी नाच रही थी । कामदार चूड़िया जो हरिया लाया था, कलाई में ठसकर आई थी। बन-ठनकर देखने पर हाय उसे कैसा बाका लग रहा था वह ! कही नजर न लग जाए ! गाव की औरतों का क्या ! बड़ी डाहखोरिन हैं । बाहर आगन का नीम फागुनी हवा से लहरा रहा था'''पत्ते हवा मे ताश खेल रहे थे। फगुनौटे-चैतिये चौपालों-गलियारों से तैर-तैर कर आ रहे थे'''

तभी वह कोठे के किवाड़ खोलकर आया। धारीदार पाजामे और कमीज मे वह बड़ा ऊंचा कद्दावर लग रहा था। आते ही संदूक से निकाल कर जाने क्या उसके सारे कपड़ों पर लगाया कि खुशबू की नदी दौड़ पड़ी। वह बौराई-सी पगला उठी । दूध का बेला बढ़ाया—

"नहीं, पहले तू आधा पी, तब पिऊंगा'''" उसने कहा।

"कैसे'''"

और सारा दूध हठ करके उसी को पिला दिया। वह रात कैसी

थी···! आज सोचकर ही उसकी आत्मा फट उठती है।

विदाई का दिन भी आया। मां ने चौक पूर दही-बूरा पिलाया। राख का टीका माथे पर लगाया कि बेटे को नजर-भूत न लगे। वह खूब हंसा था।

मा प्यार और जुदाई मे पागल-सी हो रही थी···बापू की आंखों के कोने भी भीग गए थे और उसकी गति तो राम ही जानते थे। अब जाने कब छुट्टी मिलेगी! गुलजार आगन फिर सूना हो जाएगा। हरिया हजार तसल्लियां, हजार प्यार की गिलौरिया जमुना को देकर, मा-बापू के पैर छूकर, गाव-भर को राम-राम करके चला गया दुश्मन से लड़ने।

महीना भी गुजरने न पाया था कि डाकिये के आने पर आसमान टूट पड़ा। धरती हिल गई। घर उजड गया। लाठी पर चोट खाकर चूड़ियां बिखर गईं। माथे की टिकुली पुछ गई। सुनते ही जमुना का सुहाग वह गया। मा-बाप चीख-चीखकर बेहोश हो गए। उनका इकलौता लाल धरती की लाज बचाने मे शहीद हो गया।

चिट्ठी खुली पडी थी··· "तुम्हारा बेटा वीरता से डटा रहा। पीठ नही, सीने पर गोली खाकर, कितने ही दुश्मनों को मार कर शहीद हो गया। दुश्मन के भारी, भयानक टैंकों को इसने बडी वीरता से तोड़-फोड़ डाला। पूरे देश को इस साहसी, वीर शहीद पर गर्व है। वह हमारे देश का गौरव था···और है···"

गाव एक आख से रो रहा था तो दूसरी से गर्वा रहा था। गांव का हीरा, गाव की मिट्टी से पला वीर मां के दूध का ऋण चुका गया। पर ऐसी जवान मौत! ऐसी जवान मौत··! ऐसा जवान हंसमुख हरिया! कैसे सबर आएगा मां-बाप को! कैसे पार लगेगी नौका जमुना की!

ज्वार रुकते ही उसका सिर गर्व से ऊंचा हो गया। सारे गहने फिर उसी पोटली मे बांध कर रख दिए। मरना तो सभी को है आगे-पीछे। पर क्या ऐसी मौत सभी को मिलती है! वह फिर बाहर आई। चादरे के नीचे सोई नन्ही निशानी···। उसके ओठ अंधकार मे बुदबुदा उठे—

तुझे भी लाम में भर्ती होना है, तभी तेरे पिता का कर्ज पूरा होगा रे··· एक नई आशा उसकी पुतलियों मे तैर उठी···धुंधली छाया फिर किसी

अजानी-सी चमक लेकर उसके उदास घर-आगन को रचने लगी'''उसके भीतर जैसे संकल्प के ज्वार उठ-उठकर एक नया अर्थ देने लगे'''नन्हे बेटे में उसे हरिया का हंसता हुआ रूप उजागर होने लगा'''अब अधूरी तस्वीर मे नया रंग तैरेगा और सपना पूरा हो जाएगा'''

बस्ती के बाहर की तस्वीर

शाम बडी गहरी थी। आकाश पर इक्के-दुक्के बादल घूम रहे थे। मन में आया कि इतनी प्यारी शाम को यो बैठे-बैठे गुजारना ठीक नही। फिर क्या किया जाए ? ताश खेलें ! नॉवल पढ़ें ! नही, बोरियत होगी। सिनेमा चले ! वही कौन-सी राहत है ? तीन घण्टे की कैद कौन ले ! निशा ने भीतर से आवाज पहुंचाई कि मनोहर भाई आए हैं'''सुनकर जान में जान आई।

मनोहर मेरा मित्र है'''बड़ा जिन्दा दिल और वक्त पर काम आने वाला। मैं उत्साह से उछल कर बरामदे मे गया और उसे खीच लाया भीतर। मेरी हद से ज्यादा खुशी और बेतकल्लुफी देख मनोहर हैरान था। उसे बैठाकर पहले तो निशा से कहा कि गर्म-गर्म पकौड़िया बनाओ जरा। यह हमेशा तुम्हारी पकौड़िया याद करके रोता रहता है'''खिलाओ सेर-दो-सेर दाल-बेसन घोलकर'''लेकिन मनोहर आदत से विपरीत कुछ उदास था'''

"अरे भई क्या बात है ! मुह लटकाए क्यों बैठे हो ?"

"क्या कहूँ गिरीश ! परेशान हू। नौकर नही मिल रहा। ढूढते-ढूढते थक गया हू'''शोभा है कि नौकर लाने की रट लगाए बैठी रहती है'''"

मनोहर के चेहरे से वास्तव मे परेशानी टपक रही थी।

हमने जो इतनी हल्की समस्या नौकर वाली सुनी तो बड़ी कोफ्त हुई कि यह सध्या क्या ऐसे ही बरबाद करने के लिए है ! उसका उखड़ा मूड जमाने की गरज से तपाक से बोले—

"तुम भी इस अच्छी भली शाम में क्या मनहूस रोना लेकर बैठे हो ! नौकर'''नौकर'''क्या करोगे इस झमेले को पालकर ! बेकार अनाज का और बैठे-बैठाए हजार बोझे बढ़ाना चाहते हो क्या ? इधर आकर

बैठो···बताओ कैरम खेलोगे या ताश !"

"जी हां जनाब ! आपको तो हसी-ठट्टा सूझ रहा है···मिल गई हैं सीधी-भोली भाभी ! खूब बढ़िया नाश्ता-खाना खिला देती हैं···इधर परमात्मा झूठ न बुलवाये कि सुबह की पहली किरन से लेकर संध्या की स्याही तक हमारे कानों मे नौकर-नौकर शब्द बजता रहता है। मेरी जगह तुम होते तो सारी हसी और यह खूबसूरत साझ का दृश्य सब भूल जाते।"

"मान गए भाई···लेकिन यह बात तो तुम हमे कई बार बता चुके हो कि शोभा भाभी नौकर बिना परेशान हैं···परन्तु आज तुम्हारे होश-हवास इतने बिखरे हुए क्यो हैं ! क्या भाभी के हाथों इज्जत की ज्यादा तौहीन हो गई है !"

हम उसी मजाक के मूड मे थे। सुनकर पहले तो हजरत पैर के नाखून से हमारा प्यारा गलीचा नोचते रहे। फिर कुछ ऐसा मुह बनाया, जैसे अभी-अभी नीम की पत्तिया पीकर आए हों !

"असली बात तो यह है कि जो आम पुरुषों में कमजोरी होती है, वही हमारे अन्दर भी है कि हमसे पत्नी की उदासी और आसू नही देखे जाते। कहती तो वे रोज ही हैं, लेकिन आज उनके कहने के ढग ने हमे भी परेशान कर डाला है···"

वह बात बीच मे ही बद कर पलग पर लेट गया था। हमने सोचा कि सचमुच ही आज नौकर वाली चिंता कुछ ज्यादा ही है···

"अच्छा बताओ, आज भाभी जी को कोई खास कष्ट उठाना पड़ा है क्या, जो नौकर के लिए कमर कस ली है ?"

"अरे आज जैसे ही दफ्तर से घर आया कि तुम्हारी भाभी की पलके भीगी थी। चेहरे पर बड़ी उदासी···एकदम चुप बैठी रही···देखकर हमे बड़ी हैरानी हुई कि आखिर क्या हादसा हो गया ?···"

"हादसा ही गुजरे, वही अतिम कष्ट होता है क्या ?"

साफ जाहिर था कि व्यंग्य मे बोल रही थी···

"पहेलियां बुझाने से तो सवालों का जंगल पार होगा नही, असली बात पर आओ···" इस पर तुनक उठी···

"कितनी बार नौकर के लिए कहा है आप से ? हजार काम अपने पूरे करते हो, तो नौकर नही तलाश करके ला सकते ? घर का काम कुछ तो हल्का होगा ही···"

घर के वातावरण को सहज बनाने के लिए फिर वायदा किया और यकीन दिलाया उन्हें कि जैसे भी होगा, नौकर जल्दी ही तलाश कर लिया जाएगा···परन्तु उन्हे कहा तसल्ली और क्यों रहे घर का वातावरण सहज···तुनकती रही—

"सब कहने भर की बातें है···यह रोज-रोज का पचड़ा कब तक उठाऊं। मेरी तो तबियत गिरी-पड़ी रहती है। जहां भी जाती हू, छोटे से घर मे भी एक नौकर देखती हू। यह भी मरा कोई घर है, जहा साग-भाजी को जा रहे हैं खुद दौड़े···खुद ही झाड़ू मे हाथ-पाव पटक रहे हैं··· राख-मिट्टी में हाथ साने झूठन पखार रहे हैं···इधर चूल्हे मे सिर दो, उधर कच्चे-बच्चे लिपटे रहते हैं···घड़ी-भर न चैन, न आराम। मैं कुछ नही जानती···कल तक नौकर आ जाए बस···" तो भैया, सुबह से नौकर तलाश कर रहा हू। सुबह बिना खाए दफ्तर चला गया। तुम तो समझते हो कि जब घर से दुखी होकर आदमी जाता है, तो वहां क्या खाक काम मे मन लगेगा ! इसी से आज भल्ला साहब ने तीन बार फाइल काट-पीट कर भेज दी।"

अब मैं भी गम्भीर हो गया था। मनोहर को वास्तव मे परेशानी थी···उस पर बड़ा तरस आया। भाभी जी पर भी गुस्सा आया। भला यह भी कोई पत्नी हुई, जो इतना भी न जाने कि आदमी केवल घर के सुख के लिए दस-आठ घण्टे मरखट कर आता है, उसे कैसा सुख, कैसी शान्ति देनी होती है ! केवल अपने आराम की चिंता ! शुद्ध खुदगर्जी रही यह तो !···

"भाई मनोहर ! इस मामले मे मैं खुशनसीब हू। तुम्हारी भाभी अकेली जुटी रहती है। हैरानी भी होती है कि जाने कैसे इतना काम कर लेती है···! अगर नौकर के लिए कभी जोर देता हूं तो कहती है कि भला नौकरों के बल पर घर चलता है ! खैर, मैं भी जल्दी ही तुम्हें नौकर ढूढ़ने की कोशिश करूंगा। कह देना मेरी ओर से उन्हें कि नौकर मिल

जायेगा, थोड़ा धीरज रखे···"

"हां, तुम भी देखना, इसीलिए आया था···भाभी से भी कह देना कि ध्यान रखें—"

उसी सुस्त चाल से वह चला गया था···छोड़ गया था एक फिजूल की चिपचिपी उकताहट भरी हवा···जिसने हमारे घर को भी निरर्थक खामोश-सा बना दिया था···अच्छी खूबसूरत सांझ की मौत हो चुकी थी···

दफ्तर के कामों मे इतना व्यस्त हो गया कि एकदम भूल गया मनोहर के नौकर वाले काम को···ऐसे ही एक अत्यन्त व्यस्त दिन मे वह भागता हुआ आया और बोला—

"छोड़ सारे कागज। सुन, जाने भाभी ने क्या घुट्टी पिलाई हमारी पत्नी को कि अब तो वह नौकर के नाम से ही चिढ़ती हैं। तीन दिन से ऐसा दौड़-दौड कर काम कर रही है कि देख कर अचंभा होता है · भाभी से पूछना जरूर कि ये हुआ क्या, जो उल्टी गंगा वह निकली ! मैंने हैरानी से पूछा—

"समझ में नही आया यह परिवर्तन ! कही तुम्हें उल्लू तो नही बना रही वह ! ये लोग पूरी मायाजाल होती है ! कुछ चक्कर है दोस्त···"

"नही, जब से तुम्हारे घर से लौटी है बस तभी से ये कायाकल्प हुआ है···फिर हाथ कंगन को आरसी क्या ! भाभी से पूछो तो सही कि मनोहर की वहू का नौकर वाला भूत कैसे उतारा है !"

"तूने परीक्षा ले ली कि भूत उतरा है या नही ! कोरा नाटक हो कही···" हमने कागज फाइल मे लगाते हुए कहा।

"हा, यह भी ले ली है···एक दिन झूठ-मूठ कह दिया कि शाम को नौकर आएगा। बस बिखरी कि खबरदार जो अब नौकर तलाश किया तो···नही चाहिए नौकर···जाने कैसी औरतें होती हैं जो घर मे इनको बर्दाश्त कर लेती है ! मैं तो अब इस कौम को घर मे घुसाने मे रही।"

"खूब मौसमी आदत है तेरी पत्नी की ! क्षणे तुष्टे, क्षणे रुष्टे···क्यां ! खैर, तेरी परेशानी खत्म हुई।" हम दोनो चाय पीने हरवंश की थड़ी की ओर चल दिए···

शाम को बड़ी उत्सुकता से मैं घर गया और मनोहर वाली घटना

निशा को सुनाई। पूछा भी कि शोभा को नौकर से चिढ़ क्यों हो गई अचानक !

सुनकर निशा बड़ी हंसी…बाद में जो भी कुछ बताया उसका साराश यह था कि दो-तीन दिन पहले मनोहर की पत्नी हमारे यहां आई थी… उस समय दोपहर का एक बजा था। निशा काम से छुट्टी पाकर थोड़ा आराम कर रही थी…शोभा और वह दोनो बातों में मशगूल हो गईं। तभी हमारे बरामदे में बगल वाले आहूजा साहब का नौकर और पिछवाड़े वाले मुरलीधर शर्माजी का नौकर दोनो आकर बैठ गए। थोड़ी देर बाद इन दोनों महिलाओं का ध्यान नौकरों की बातो की ओर गया। नौकर लोग बड़ी लापरवाही से बोले जा रहे थे…

"अबे आज सनीवार है, रात का सो देखने चलेगा !"

आहूजा साहब का मुंह लगा नौकर बोला—

"अबे, मेम साहब से छुट्टी मिले तो चलें—"

यह शर्माजी का नौकर था, जो एक-दो दर्जा पढ़ा था और सिनेमा की सस्ती पत्रिकाएं पढा करता और तस्वीरें काटकर अपनी कोठरी में चिपकाता था।

उसने दो तेल की कचौरियां और बीड़ी का बण्डल निकाल कर बरामदे में रखे। दोनों खाने लगे। बीड़ी के कश चल पड़े। तभी सामने से पीली कोठी वाले डॉक्टर साहब का नौकर दो प्यारे-प्यारे बच्चों का हाथ पकड़ कर आया और इनकी मण्डली में शामिल हो गया।

"बैठो यार ! कहो बेटा आज तुम्हारी कटखनी मालकिन ने कैसे छुट्टी दे दी !" आधी कचौरी तोडकर उसे देते हुए आहूजा का नौकर बोला।

जिससे बात कही गई, वह डॉक्टर साहब का घरेलू नौकर था। कुछ गुमान भी था। जबान का कुछ अधिक अक्खड़ था। बोला—

"ढंग से बात कर बे… काम कराती है, तो प्यार भी करती है, तो फटकारती भी है…तेरी मैम जैसी कंगली-कंजूसनी तो है नहीं…क्यो बे मोटे !"

"हां, उस्ताद ! अबे ! नई जूतियो की मार भी मीठी होती है" उसने कुछ ऐसी अभिनेता टाइप अदा से बात काटी कि सभी हो-हो कर हंस पड़े।

"गई कहां है तुम्हारी मालकिन आज !" शर्मा जी का नौकर सोंठ से पीले दांत निकालकर बोला।

"जायेगी कहा ! वह जो दूसरा छोकरा डॉक्टर बाबू आया है न, उसी के साथ मेम और साहब सनीमा गए हैं। पूरे दो घटे बैठकर मुंह रंगा आज तो···मुझसे बोली, दो रुपये तू भी ले ले···खेल देखना कभी जाकर··· यह बेबी के बिस्कुट हैं, इन्हें रुलाना नही···।"

बच्चे दोनों सामने रेत में खेलने लगे थे।

"तो प्यारे···ये मजे है तेरे ! बड़ा जोरदार घर पकड़ा है···खूब करो मौज। कहां तेरा साहब डॉक्टर और कहा हमारा विच्छू···!"

आहूजा के नौकर ने चटखारा ले एक तेज सीटी बजाई। तभी शर्मा जी का नौकर चिल्लाया···

"अरे उधर तो देख, वो डाक्टर का छोकरा लोग मिट्टी खा रहा है। क्यो रे, ले जाने मे शर्म लगती होगी इन लोगों को ? आजादी मे फरक आता होगा और क्या !"

"अबे चुप भी कर ! ये होती हैं मेम साहबें ! दूध पिलाए तो आया, झूलने मे झुलाए तो आया, बेबी को घुमाने ले जाए तो आया···तो आया को ही घर की मालकिन क्यों नही बना देता साहब ?" एक भद्दी हंसी फिर उभरी।

बस बात पूरी हुई कि मनोहर की पत्नी ने दरवाजा खोलकर तीनो नौकरो को पहले तो खूब फटकारा, बाद मे उन्हें फिर बरामदे मे न आने की ताकीद की। तीनों एकदम भाग गए। शोभा भाभी का मुह क्रोध से तमतमा रहा था। बोली थी कि मुनी निशाजी इनकी बातें। हाय, ये अपने मालिकों की कितनी खुलकर और बेशर्मी से हसी उड़ाते हैं ! इन्ही की शरण मे रहते-खाते हैं और कैसी-कैसी बातें करते है ?

पहले जैसे नौकर कहां गए, जो बहन को बहन और मा को मां समझते थे ! स्वामी-भक्ति के नाम पर जान दे देते थे।···और आज के ये नौकर ! हे भगवान ! आगे तो नौकर का नाम कि राम दुहाई···

हम देर तक इस जादुई असर को दुहराते रहे···हंसते रहे···तो यह बात थी, जिसने मनोहर की चिंता मिटाकर नौकरवाली बीमारी से मुक्त किया था···

□□

नाम : सावित्री परमार

जन्म स्थान : 16 सितम्बर 1932
खुर्जा, जिला बुलन्द शहर (उ. प्र.)

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी)

लेखन : कहानी तथा काव्य पर अ
भारतीय स्तर पर पुरस्कृत।
राजस्थान साहित्य अकादमी द्वा
'1984 सहल पुरस्कार' से पुरस्कृ

काव्य संकलन—कटी सतरों का इतिहास
कहानी संकलन —घाटी में पिघलता सूरज
यात्रा विवरण —शाश्वत सौन्दर्य के शिल्प तीर्थ
उपन्यास—सूरज की आहट (शीघ्र प्रकाश्य)

बाल साहित्य की दो पुस्तकें